

आचार्य वर्धमानसूरीकृत

आचार्यदिनकर

प्रथम-खण्ड

जैनगृहस्थ की षोडशसंस्कारविधि

सम्प्रेरक

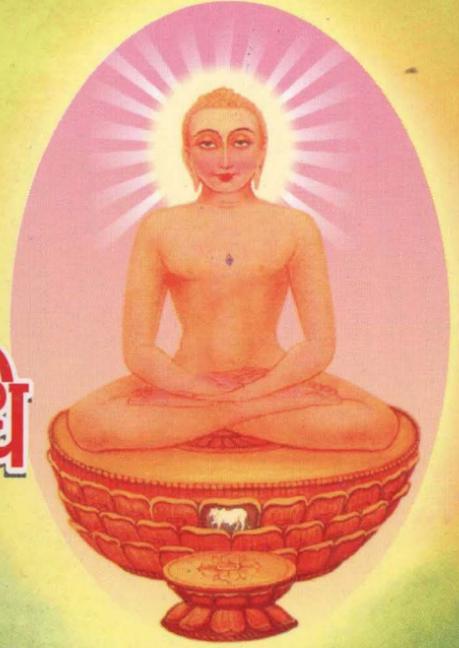
साध्वी हर्षयशा श्रीजी

अनुवादक

साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्रीजी

सम्पादक

डॉ. सागरमल जैन



प्रकाशक

प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)



॥ सम्यग्ज्ञानप्रदा भूयात् भव्यानाम् भक्तिशालिनी ॥



अति प्राचिन
श्री अवन्ति पार्श्वनाथ भगवान्
उज्जैन (म.प्र.)

सादर समर्पण

अहिंसा
अनेकान्त
एवं
अपरिग्रह
के
अविरल दीप से
सतत प्रकाशवान
जिन शासन
को
सादर समर्पित



आतम हितकारी



भगवान आदिनाथ



दादा श्री जिनदत्तसूरिजी



दादा श्री जिनकुशलसूरिजी



मणिधारी दादा
श्री जिनचन्द्रसूरिजी



दादा श्री जिनचन्द्रसूरिजी

प्रकाशन सहयोगी



श्री गुलाबचन्दजी फूलचन्दजी झाड़चूर

शान्तादेवी गुलाबचन्दजी झाड़चूर
नेमीचन्द, रिखबचन्द, शीतलचन्द, रमेशचन्द,
सुनीलकुमार, श्रीचन्द, विनयचन्द झाड़चूर-जयपुर

आचार्य वर्धमानसूरीकृत
आचारदिनकर

प्रथम खण्ड

जैनगृहस्थ की षोडशसंस्कारविधि

सम्प्रेरक
साध्वी हर्षयशा श्री जी

अनुवादक
साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी

सम्पादक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

ग्रन्थ नाम	—	वर्धमानसूरि कृत 'आचारदिनकर' प्रथमखण्ड जैनगृहस्थ की षोडशसंस्कारविधि
अनुवादक	—	पूज्या समतामूर्ति श्री विचक्षण श्री जी म.सा. की प्रशिष्या एवं साध्वीवर्या हर्षयशा श्री जी की शिष्या साध्वी मोक्षरत्नाश्री जी
सम्पादक	—	डॉ. सागरमल जैन
प्रकाशक	—	प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़ शाजापुर (म.प्र.)
प्रकाशन सहयोग	—	श्री गुलाबचन्द जी फूलचंदजी सा. झाडचूर एवं परिवार, जयपूर
प्राप्ति स्थल	—	(1) डॉ. सागरमल जैन, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.) 465001 (2) सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथीखाना रतनपोल — अहमदाबाद (गुजरात)
प्रकाशन वर्ष	—	प्रथम संस्करण, सितम्बर 2005
मूल्य	—	रु. 40 /— चालीस रूपया

जिनके परम पुनीत चरणों में
शत शत वन्दन

खरतरगच्छाधिपति, शासनप्रभावक, आचार्य भगवन्त
पूज्य श्री जिनमहोदयसागरसूरीश्वरजी म.सा.
शासनप्रभावक गणाधीश उपाध्याय भगवन्त
पूज्य श्री कैलाशसागरजी म.सा.

प्रेरणास्रोत

जिनशासनप्रभावक, ऋजुमना
परमपूज्य श्री पीयूषसागरजी म.सा.

परोक्ष आशीर्वाद

जैनकोकिला, समतामूर्ति, स्व. प्रवर्तिनी, परमपूज्या गुरुवर्या
श्री विचक्षणश्रीजी म.सा- एवं उनकी सुशिष्या आगमरश्मि
स्व. प.पू. प्रवर्तिनी श्री तिलकश्रीजी म.सा-

प्रत्यक्ष कृपा

सेवाभावी, स्पष्टवक्ता,
परमपूज्या गुरुवर्या श्री हर्षयशाश्रीजी म.सा-

पूज्या साध्वीवृन्द के चरणों में

नमन, नमन और नमन

शान्त-स्वभावी महत्तराश्री विनीताश्रीजी म.सा.
सरल-मना पूज्याश्री चन्द्रकलाश्रीजी म.सा.
प्रज्ञा-भारती प्रवर्तिनीश्री चन्द्रप्रभाश्रीजी म.सा.
शासन-ज्योति पूज्याश्री मनोहरश्रीजी म.सा.
प्रसन्न-वदना पूज्याश्री सुरजनाश्रीजी म.सा.
महाराष्ट्र-ज्योति पूज्याश्री मंजुलाश्रीजी म.सा.
मरुधर-ज्योति पूज्याश्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

शुभाशीर्वाद

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के प्रथम भाग में वर्णित गृहस्थ के सोलह संस्कारों से संबंधित अंश का अनुवाद कर उसे पुस्तक रूप में छपाने का आपका यह प्रयास सराहनीय है। डॉ. श्री सागरमलजी के पूर्ण सहयोग से आपने जो महत् कार्य किया है, उसकी मैं अनुमोदना करता हूँ। ऐसे पुनीत कार्य के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है। आगे भी सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद कर उसे प्रकाशित करवाने का सुयश आपको प्राप्त हो और उस कार्य में आप सफल हो, यही शुभेच्छा है।

गच्छ हितेच्छु
गच्छाधिपति कैलाश सागर

शुभाषीश

'आचारदिनकर' ग्रन्थ खरतरगच्छ परम्परा की अमूल्य धरोहर है। यह एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है, जिसके अन्तर्गत गृहस्थ एवं साधु जीवन के संस्कारों का आलेखन सुंदर रीति से किया गया है।

साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी ने इस ग्रन्थ का अनुवाद करके साहित्य जगत में अभिवृद्धि की है। हमारा आशीर्वाद है कि वे इसी प्रकार साहित्य सेवा करके जिनशासन की प्रभावना करती रहे।

— जयानन्दगुनि

अनुमोदनीय एवं स्तुत्य प्रयास

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, सामाजिक इकाई होने के कारण वह समाज में ही रहता है तथा जीता है। समाज में मनुष्य अपने और अपने साथियों के साथ कैसा व्यवहार करें ? इस का दिग्दर्शन आचार सम्बन्धी विधि-निषेधों के माध्यम से ही ज्ञात हो सकता है। आचार ही औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ, श्रेय-अश्रेय, कुशल-अकुशल का मानदण्ड होता है।

आचार के सम्यक् अध्ययन के अभाव में न तो जीवन के आदर्श का बोध संभव है, न उसकी उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। भगवान महावीर का उद्घोष है - "आचारः प्रथमो धर्मः" आचार ही धर्म की आधार शिला है। मानव जीवन में आचरण सम्बन्धी विवेक ही व्यक्ति के ज्ञान का परिचायक होता है। अतः व्यवहारिक व आध्यात्मिक जीवन के सर्वांगीण विकास हेतु आचार-मार्ग का पालन नितांत अनिवार्य है।

ज्ञान एवं आचार को मुख्यता देने वाली तथा चैत्यवासी परंपरा के विरुद्ध सर्वप्रथम क्रांति का शंखनाद करने वाली खरतरगच्छीय परंपरा की रुद्रपल्लीय शाखा के बारहवें पट्टधर श्री जयानंद सूरि के प्रखर शिष्य श्री वर्द्धमानसूरि ने वि.सं. 1468 में जालन्धर अपरनाम नंदनवनपुर (पंजाब) में 12500 संस्कृत श्लोकों एवं प्राकृत गाथाओं में आचारदिनकर नामक ग्रंथ की रचना की है। जैन धर्म की आचार प्रणाली को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में 'आचारदिनकर' का महत्वपूर्ण अवदान है।

आचारदिनकर ग्रंथ मुख्य रूप से दो भाग में विभक्त है। प्रथम भाग में गृहस्थ एवं मुनियों के क्रमशः सोलह-सोलह संस्कारों का विस्तृत उल्लेख है। दूसरे भाग में गृहस्थ एवं साधु दोनों से सम्बन्धित आठ संस्कारों का वर्णन है। विधि-विधान की यह अनमोल कृति सर्वोत्तम है और सर्वमान्य है। आज भी प्रतिष्ठा-विधि, प्रायश्चित्त-विधि, आवश्यक-विधि आदि समस्त विधि-विधान श्वेताम्बर परम्परा के समस्त गच्छों में इसी को आधार बनाकर किए जाते हैं।

किसी भी गौरवशाली संस्कृति की आधार शिला संस्कार है। जिस समाज के सदस्यों के संस्कार जितने परिपक्व होंगे, उनकी संस्कृति उतनी ही अनुकरणीय होगी। संस्कार मन और मस्तिष्क का परिमार्जन करते हैं। संस्कार ही शरीर एवं चेतना को सजाते और संवारते हैं। संस्कार शब्द का

साधारणतया अर्थ – किसी भी द्रव्य को ऐसा स्वरूप देना जिसके द्वारा वह पूर्णतः उपयोगी बन सके। भारतीय संस्कृति में जीव के माता के गर्भ में प्रवेश के साथ ही संस्कारों का क्रम प्रारंभ हो जाता है।

स्व. आचार्य श्री जिन महोदयसागर सूरिश्वर जी म.सा. की अंतरंग अभिलाषा थी, कि आचारदिनकर ग्रन्थ का राष्ट्र भाषा (हिन्दी) में अनुवाद सह विश्लेषण हो। आज मन प्रसन्नता से सरोबार है कि पूज्यपाद आचार्य भगवंत के भावों को साकार रूप देने में आदरणीय प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री विचक्षण श्री जी म. की प्रशिष्या यथा नाम तथा गुण संपन्ना विदुषी आर्या हर्षयशा श्री जी म. की अन्तेवासिनी विद्याभिलाषी साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी म. ने आचारदिनकर जैसे ग्रन्थ के अनुवाद एवं परिशोधन के कार्य का शुभारंभ किया है। उनका यह कार्य अभिनन्दनीय एवं स्तुत्य है।

अति अल्प समय में बहुमुखी प्रतिमा के धनी, विविध दर्शनों के ज्ञाता डॉ. सागरमल जी जैन साहब के दिशा-निर्देशन में साध्वी श्री जी ने गृहस्थ जीवन के सोलह संस्कार सम्बन्धी प्रथम भाग का अनुवाद कर उसका प्रकाशन करवाने जा रही है। आपका यह प्रयत्न रत्नत्रय की साधना को परम विशुद्ध बनाए एवं जन-हितार्थ बने ऐसी शुभभावना है।

आशा है कि यह प्रकाशन जन-जन के हृदय को सुसंस्कृत कर प्रत्येक आत्मा को कल्याण की दिशा में अग्रसर करेगा। आप शेष कार्य भी शीघ्र पूर्णकर प्रकाशित करवाए यही मंजुल शुभेच्छा।

नयापारा, राजिम
31 अगस्त 2005

जिनमहोदयसागरसूरि चरणरज
मुनि पीयूषसागर

शुभाशंसा

भारतीय संस्कृति सुसंस्कारों से अलंकृत है। संस्कार मानवजीवन को सुसंस्कृत बनाते हैं। देशविरति और सर्वविरति के संस्कारों को धारण करके व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। जैन गृहस्थ और मुनियों से सम्बन्धित संस्कारों को लेकर आचार्य श्री वर्धमानसूरि जी ने आचारदिनकर नामक एक आकर ग्रन्थ की रचना की थी, उनका यह ग्रन्थ जैन परम्परा में संस्कारों से सम्बन्धित विधि-विधान के लिए अति उपयोगी रहा है। किन्तु मूलग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत में होने से वर्तमान युग के हिन्दी और गुजराती भाषी जनों के लिए व्यवहारिक नहीं था। समतामूर्ति और समन्वय साधिका श्री विचक्षण श्री जी की शिष्या एवं प्रवर्तिनी तिलक श्री जी म.सा. की अन्तेवासिनी हर्षयशा श्री जी की सुशिष्या अध्ययनशीला मोक्षरत्ना श्री जी ने डॉ. सागरमल जी जैन के निर्देशन में आचारदिनकर जैसे दुरुह और विशाल ग्रंथ का अनुवाद किया है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि गृहस्थ जीवन के संस्कारों से सम्बन्धित उसका प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है। इस पुनीत कार्य के लिए साध्वी श्री जी, डॉ. जैन सा. एवं प्रकाशन संस्था साधुवाद के पात्र है। साध्वी श्री जी भविष्य में भी इसी प्रकार ज्ञान आराधना करते हुए सत् साहित्य का सृजन करें।

यही शुभभावना।

इंदौर

20-08-2005

गुरुविचक्षणविनेया

विनीताश्री

मंगलकामना

व्यवहारिक जीवन में उपादेय हो ऐसे साहित्य का प्रकाशन समाज हित में उपयोगी होता है। साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी ने अध्ययन और अनुशीलन में निरत रहकर 'आचारदिनकर' जैसे जैन विधि-विधान के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद किया है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उसके गृहस्थ जीवन के सोलह संस्कारों से सम्बन्धित प्रथम खण्ड का प्रकाशन हो रहा है। साध्वी जी का यह पुरुषार्थ प्रशंसनीय है। वे अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन के द्वारा जिनवाणी और जैन धर्म की प्रभावना करे, यही शुभेच्छा है। उनकी साहित्य सेवा के लिए मंगलकामना।

विचक्षण शिशु
तिलक गुरु चरणरज
मंजुलाश्री

सादर समर्पण

गृहस्थ जीवन में श्रद्धा, विनय, विवेक और क्रिया आवश्यक है। जीवन को सार्थक करने के लिये श्रावक ओर श्राविकाओं को संस्कारों के द्वारा अपने आपको सुसंस्कारित करना चाहिए।

पूर्व भव में उपार्जित कुछ संस्कार व्यक्ति साथ में लाता है और कुछ संस्कार इस भव में संगति एवं शिक्षा के द्वारा उपार्जन करता है। अतः गर्भ में आने के साथ ही बालक में विशुद्ध संस्कार उत्पन्न हो इसलिए कुछ संस्कार विधियाँ की जाती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के गृहस्थ के सोलह संस्कारों का विवेचन है। मूल ग्रन्थ वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर है। साध्वी मोक्षरत्ना श्री ने इसका सुन्दर और सुबोध भाषा में अनुवाद किया है।

आचारदिनकर ग्रन्थ के प्रणेता खरतर गच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि जी ने गृहस्थ एवं साधु जीवन को सुघड़ बनाने के लिये इस ग्रन्थ को मूल दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में गृहस्थ एवं साधु जीवन के सोलह-सोलह संस्कारों का उल्लेख है तथा दूसरे भाग में गृहस्थ एवं साधु दोनों के द्वारा किये जाने वाले आठ संस्कारों का उल्लेख किया है। जैसे प्रतिष्ठा-विधि, प्रायश्चित्त-विधि, आवश्यक-विधि आदि। यह संपूर्ण ग्रंथ बारह हजार पाँच सौ श्लोको में निबद्ध है।

आचारदिनकर ग्रंथ का अभी तक सम्पूर्ण अनुवाद हुआ ही नहीं है। यह पहली बार अनुवादित रूप में प्रकाशित होने जा रहा है। जन हितार्थ साध्वी जी ने जो अथक पुरुषार्थ किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

विशेष रूप से मैं जब भी पूज्य श्री पीयूषसागर जी म.सा. से मिलती तब वे एक ही बात कहते कि मोक्षरत्नाश्री जी को अच्छी तरह पढ़ाओ ताकि जिन शासन की अच्छी सेवा कर सकें उनकी सतत् प्रेरणा ही साध्वी जी के इस महत् कार्य में सहायक रही है।

इसके साथ ही कर्मठ, सेवाभावी, जिनशासन के अनुरागी, प्राणी मित्र कुमारपाल भाई वी. शाह एवं बड़ौदा निवासी, समाज सेवक, गच्छ के प्रति सदैव समर्पित, अध्ययन हेतु निरंतर सहयोगी नरेशभाई शांतिलाल पारख, आप दोनों का यह निर्देश रहा कि म.सा. पढ़ाई करना हो तो आप

शाजापुर डॉ. सागरमल जी जैन सा. के सान्निध्य में इनका अध्ययन कराए।

शाजापुर आने के बाद डॉ. सागरमलजी जैन सा. ने एक ही प्रश्न किया, म.सा. समय लेकर आए हो कि बस उपाधि प्राप्त करनी है। हमने कहाँ कि हम तो सबको छोड़कर आपकी निश्रा में आए हैं। आप जैसा निर्देश करेंगे, वही करेंगे। उन्होंने साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी को जो सहयोग एवं मार्गदर्शन दिया है, वह स्तुत्य है। यदि उन्होंने आचारदिनकर के अनुवाद करने का कार्य हमारे हाथ में नहीं दिया होता तो शायद यह रत्न ग्रन्थ आप लोगो के समक्ष नहीं होता। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहें — यह महान् कार्य उनके एवं साध्वी जी के अथक श्रम का परिणाम है।

इस अवसर पर पूज्य गुरुवर्याओ श्री सप्ततामूर्ति प.पू. विचक्षण श्री जी म.सा. एवं आगम रश्मि प.पू. तिलक श्री जी म.सा. की याद आए बिना नहीं रहती। यदि आज वे होते तो इस कार्य को देखकर अतिप्रसन्न होते। उनके गुणों को लिखने में मेरी लेखनी समर्थ नहीं है। विश्व के उदयांचल पर विराट् व्यक्तित्व संपन्न दिव्यात्माएँ कभी-कभी ही उदित होती हैं। किन्तु उनके ज्ञान और चारित्र का भव्य प्रकाश चारों दिशाओं को आलोकित करता रहता है। आप गुरुवर्याओ का संपूर्ण जीवन ही त्याग, तप एवं संयम की सौरभ से ओत-प्रोत था, जैसे पानी की प्रत्येक बूंद प्यास बुझाने में सक्षम है, वैसे ही आप गुरुवर्याओ श्री के जीवन का एक एक क्षण अज्ञानान्धकार में भटकने वाले समाज के लिए प्रकाश पुंज है। वे मेरे जीवन की शिल्पी रही हैं।

ऐसी महान् गुरुवर्याओं का पार्थिव शरीर आज हमारे बीच नहीं है, परन्तु अपनी ज्ञान ज्योति के द्वारा वे आज भी हमे आलोकित कर रही हैं।

उन ज्ञान-पुंज चारित्र-आत्माओं के चरणों में भावभरी हार्दिक श्रद्धांजली के साथ-साथ यह कृति भी सादर समर्पित है।

**विचक्षण चरणरज
हर्षयशाश्री**

!! कृतज्ञता ज्ञापन !!

भारतीय संस्कृति संस्कार प्रधान है, संस्कारों से ही संस्कृति बनती है। प्राचीन काल से ही भारत अपनी समृद्ध संस्कृति के लिए विश्व पूज्य रहा है। भारत की इस सांस्कृतिक धारा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भारतीय विद्वानों ने समय-समय पर अनेक ग्रंथों की रचना कर अपनी संस्कृति का पोषण किया है। संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों से युक्त वर्धमानसूरि कृत 'आचारदिनकर' भी एक ऐसी ही महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना को पुष्ट करने वाले चालीस विधि-विधानों का विवेचन मिलता है। इसमें मात्र बाह्य विधि-विधानों की ही चर्चा नहीं है, वरन् आत्म विशुद्धि करने वाले धार्मिक एवं आध्यात्मिक विधि-विधानों का भी समावेश ग्रंथकार ने किया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस ग्रन्थ की प्रासंगिकता को देखते हुए मैंने इस ग्रन्थ का भावानुवाद सुबोध हिन्दी भाषा में करने का एक प्रयास किया है।

मेरा अनुवाद कैसा है ? यह तो सुज्ञ पाठक ही निर्णय करेंगे। मैंने अपने हिन्दी अनुवाद को मूलग्रन्थ के भावों के आस-पास ही रखने का प्रयत्न किया है। विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ के अनुवाद का यह मेरा प्रथम प्रयास है। मूल मुद्रित प्रति में अनेक अशुद्ध पाठ होने के कारण तथा मेरे अज्ञानवश अनुवाद में त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। यह भी सम्भव है कि ग्रन्थकार की भावना के विरुद्ध अनुवाद में कुछ लिखा गया हो, उस सब के लिए मैं विद्वत् वर्ग से करबद्ध क्षमा याचना करती हूँ।

इस पुनीत कार्य में उपकारियों के उपकार को कैसे भूला जा सकता है। इस ग्रन्थ के अनुवाद में प्रत्यक्षतः परिश्रम भले मेरा दिखाई देता हो, किन्तु उसके पीछे आत्म ज्ञानी, महान् साधिका, समतामूर्ति, परोपकार वत्सला गुरुवर्या श्रीविचक्षण श्रीजी म.सा. के षरोक्ष शुभाशीर्वाद तो है ही। इस कार्य में परम श्रद्धेय प्रतिभापुंज, मधुरभाषी पूज्य श्री पीयूषसागर जी म. सा. की सतत् प्रेरणा मुझे मिलती रही है। उनके प्रेरणाबल की चर्चा कर मैं उनके प्रति अपनी आत्मीय श्रद्धा को कम नहीं करना चाहती हूँ। ग्रन्थ प्रकाशन के इन क्षणों में संयम प्रदाता प.पू. हर्षयशाश्रीजी म.सा. का उपकार भी मैं कैसे भूल सकती हूँ, जिनकी भाव वत्सलता से मेरे जीवन का कण-कण आप्लावित है, वे मेरी दीक्षा गुरु ही नहीं वरन् शिक्षा गुरु भी है। अनुवाद के प्रकाशन में उनका जो आत्मीय सहयोग मिला वह मेरे

प्रति उनके अनन्य वात्सल्य भाव का साक्षी है। ग्रन्थ प्रकाशन के इन सुखद क्षणों में आगममर्मज्ञ मूर्धन्य पंडित डॉ. सागरमलजी सा. का भी उपकार भूलाना कृतघ्नता ही होगी, उन्होंने हर समय इस अनुवाद कार्य में मेरी समस्याओं का समाधान किया तथा निराशा के क्षणों में मेरे उत्साह का वर्धन किया। अल्प समय में इस गुरुतर ग्रंथ का अनुवाद का कार्य आपके दिशा-निर्देश एवं सहयोग के बिना शायद ही सम्भव हो पाता।

साधु-साध्वियों के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध हेतु पूर्ण समर्पित डॉ. सागरमलजी जैन द्वारा स्थापित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर द्वारा प्रदत्त आवास, निवास और ग्रन्थागार की पूरी सुविधाएँ भी इस कार्य की पूर्णता में सहायक रही है।

अन्त में उन सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोगियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस कार्य में अपना सहयोग प्रदान किया। भाई अमित ने इसका कम्प्यूटर कम्पोजिंग एवं आकृति आफसेट ने इसका मुद्रण कार्य किया एतदर्थ उन्हें भी साधुवाद।

मुझे विश्वास है, इस अनुवाद में अज्ञानतावश जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, उन्हें सुधीजन संशोधित करेंगे।

शाजापुर,

विचक्षण हर्षचरणरज
मोक्षरत्ना श्री

!! भूमिका !!

किसी भी धर्म या साधना पद्धति के दो पक्ष होते हैं - 1. विचार पक्ष और 2. आचार पक्ष। जैन धर्म भी एक साधना पद्धति है। अतः उसमें भी इन दोनों पक्षों का समायोजन पाया जाता है। जैन धर्म मूलतः भारतीय श्रमण परम्परा का धर्म है। भारतीय श्रमण परंपरा अध्यात्मपरक रही हैं और यही कारण है कि उसने प्रारम्भ में वैदिक कर्मकाण्डीय परम्परा की आलोचना भी की थी, किन्तु कालान्तर में वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों का प्रभाव उस पर भी आया। यद्यपि प्राचीन काल में जो जैन आगम ग्रन्थ निर्मित हुए, उनमें आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाएँ ही प्रधान रही हैं, किन्तु कालान्तर में जो जैन ग्रन्थ निर्मित हुए उनमें वैदिक परम्परा के प्रभाव से कर्मकाण्ड का प्रवेश भी हुआ। पहले गौण रूप में और फिर प्रकट रूप में कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ जैन परम्परा में भी लिखे गए। भारतीय वैदिक परम्परा में यज्ञ-याग आदि के साथ-साथ गृही जीवन के संस्कारों का भी अपना स्थान रहा है और प्रत्येक संस्कार के लिए यज्ञ-याग एवं तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड एवं उसके मंत्र भी प्रचलित रहे। मेरी यह सुस्पष्ट अवधारणा है, कि जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का और उनके विधि-विधान का जो प्रवेश हुआ है, वह मूलतः हिन्दू परम्परा के प्रभाव से ही आया है। यद्यपि परम्परागत अवधारणा यही है, कि गृहस्थों के षोडश संस्कार और उनके विधि-विधान भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रवर्तित किए गए थे। आचारदिनकर में भी वर्धमानसूरी ने इसी परम्परागत मान्यता का उल्लेख किया है। जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है, उसमें कथापरक आगमों में गर्भाधान संस्कार का तो कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उनमें तीर्थकरों के जीव के गर्भ में प्रवेश के समय माता द्वारा स्वप्न दर्शन के उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जातकर्म संस्कार, सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्याध्ययन संस्कार आदि कुछ संस्कारों के उल्लेख भी उनमें मिलते हैं, किन्तु वहाँ तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी इससे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में जैन परम्परा में भी संस्कार सम्बन्धी कुछ विधान किए जाते थे। यद्यपि मेरी अवधारणा यही है कि जैन समाज के बृहद् हिन्दू समाज का ही एक अंग होने के कारण जन सामान्य में प्रचलित जो संस्कार आदि की सामाजिक क्रियाएँ थी, वे जैनों द्वारा भी मान्य थी। किन्तु ये संस्कार जैन धर्म की निवृत्तिपरक साधना विधि का अंग रहे होंगे, यह कहना कठिन है।

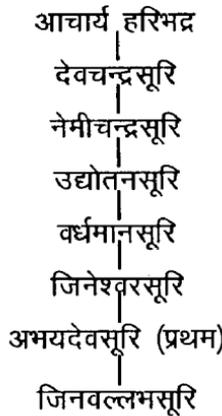
जहाँ तक संस्कार सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना का प्रश्न है, वे आगमिकव्याख्याकाल के पश्चात् निर्मित होने लगे थे। किन्तु उन ग्रंथों में भी गृहस्थ जीवन सम्बन्धी षोडश संस्कारों का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है।

मात्र दिगम्बर परम्परा में जो पुराणग्रन्थ हैं, किन्तु उनमें इन संस्कारों के विधि-विधान के मात्र संसूचनात्मक कुछ निर्देश ही मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र (लगभग आठवीं शती) के ग्रन्थ जैसे अष्टकप्रकरण, पंचाशक प्रकरण, पंचवस्तु आदि में भी विधि-विधान सम्बन्धी कुछ उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु उनमें जो विधि-विधान सम्बन्धी उल्लेख हैं वे प्रथमतः तो अत्यन्त संक्षिप्त हैं और दूसरे उनमें या तो जिनपूजा, जिनभवन, जिनयात्रा, मुनि दीक्षा आदि से सम्बन्धित ही कुछ विधि-विधान मिलते हैं या फिर मुनि आचार सम्बन्धी कुछ विधि-विधानों का उल्लेख उनमें हुआ है। गृहस्थ के षोडश संस्कारों का सुव्यवस्थित विवरण हमें आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में देखने को नहीं मिलता है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् नवमीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक मुनि आचार सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। जैसे - पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका, जिनवल्लभसूरि विरचित संघपट्टक, चन्द्रसूरि की सुबोधासमाचारी, तिलकाचार्यकृत समाचारी, हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र, समाचारीशतक आदि कुछ ग्रन्थ हैं। किन्तु ये सभी ग्रन्थ भी मुख्यतया साधना परक और मुनि जीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का ही उल्लेख करते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से विधि-विधान सम्बन्धी जिन ग्रन्थों की रचना हुई उसमें 'विधिमार्गप्रपा' को एक प्रमुख ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इस में भी जो विधि-विधान वर्णित हैं, उनका सम्बन्ध मुख्यतः मुनि आचार से ही है या फिर किसी सीमा तक जिनभवन, जिनप्रतिमा, प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित उल्लेख हैं। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में पं. आशाधर के सागरधर्माभूत एवं अणगारधर्माभूत में तथा प्रतिष्ठाकल्प में कुछ विधि-विधानों का उल्लेख हुआ है। सागर-धर्माभूत में गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित कुछ विधि-विधान चर्चित अवश्य हैं, किन्तु उसमें भी गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, षष्ठीपूजा, अन्नप्राशन, कर्णवेध आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। गृहस्थ जीवन, मुनिजीवन और सामान्य विधि-विधान से सम्बन्धित मेरी जानकारी में यदि कोई प्रथम ग्रन्थ है तो वह वर्धमानसूरीकृत आचारदिनकर (वि.सं. 1468) ही है।

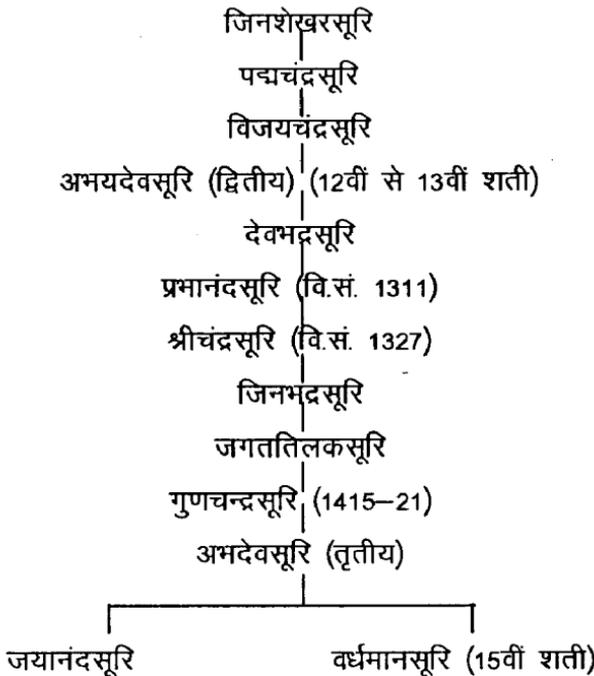
ग्रन्थ के रचियता और रचनाकाल :-

जहाँ तक इस ग्रन्थ के रचियता एवं रचना काल का प्रश्न है, इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि वि.सं. 1468 में जालंधर नगर (पंजाब) में इस ग्रन्थ की रचना हुई। ग्रन्थ प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि द्वारा रचित है। अभयदेवसूरि और वर्धमानसूरि जैसे प्रसिद्ध नामों को देखकर सामान्यतया चन्द्रकुल के वर्धमानसूरि, नवांगीटीकाकार अभयदेवसूरि का स्मरण हो आता है,

किन्तु आचारदिनकर के कर्ता वर्धमानसूरि इनसे भिन्न हैं। अपनी सम्पूर्ण वंश परम्परा का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने को खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा के अभयदेवसूरी (तृतीय) का शिष्य बताया है। ग्रन्थ प्रशस्ति में उन्होंने जो अपनी गुरु परम्परा सूचित की है, वह इस प्रकार है :-



इसके पश्चात् जिनवल्लभ के शिष्य जिनशेखर से रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना को बताते हुए, उसकी आचार्यपरम्परा निम्न प्रकार से दी है :-



प्रस्तुत कृति में वर्धमानसूरि ने जो अपनी गुरु परम्परा दी है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे खरतरगच्छ की रुद्रपल्ली शाखा से सम्बन्धित थे। ज्ञातव्य हैं कि जिनवल्लभसूरि के गुरु भ्राता जिनशेखरसूरि ने जिनदत्तसूरि द्वारा जिनचंद्रसूरि को अपने पट्ट पर स्थापित करने से रूष्ट होकर उनसे पृथक् हो गए और उन्होंने रुद्रपल्ली शाखा की स्थापना की। ऐसा लगता है कि जहाँ जिनदत्तसूरि की परम्परा ने उत्तर-पश्चिम भारत को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाया, वही जिनशेखर सूरि ने पूर्वोत्तर क्षेत्र को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाकर विचरण किया। रुद्रपल्ली शाखा का उद्भव लखनऊ और अयोध्या के मध्यवर्ती रुद्रपल्ली नामक नगर में हुआ और इसीलिए इसका नाम रुद्रपल्ली शाखा पड़ा। वर्तमान में भी यह स्थान रुद्रौली के नाम से प्रसिद्ध है — इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पंजाब तक रहा। प्रस्तुत आचारदिनकर की प्रशस्ति से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना पंजाब के जालंधर नगर के नंदनवन में हुई, जो रुद्रपल्ली शाखा का प्रभाव क्षेत्र रहा होगा। यह स्पष्ट है कि रुद्रपल्ली स्वतंत्र गच्छ न होकर खरतरगच्छ का ही एक विभाग था। साहित्यिक दृष्टि से रुद्रपल्ली शाखा के आचार्यों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना हुई। अभयदेवसूरि (द्वितीय) द्वारा जयन्तविजय महाकाव्य वि.स. 1278 में रचा गया। अभयदेवसूरि (द्वितीय) के पट्टधर देवभद्रसूरि के शिष्य तिलकसूरि ने गौतमपृच्छावृत्ति की रचना की है। उनके पश्चात् प्रमानंदसूरि ने ऋषभपंचाशिकावृत्ति और वीतरागवृत्ति की रचना की। इसी क्रम में आगे संघतिलकसूरि हुए जिन्होंने सम्यक्त्वसप्ततिटीका, वर्धमानविद्याकल्प, षट्दर्शनसमुच्चयवृत्ति की रचना की। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में वीरकल्प, कुमारपालचरित्र, शीलतरंगिनीवृत्ति, कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प (प्रदीप) आदि कृतियाँ भी मिलती हैं। कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प की रचना से भी यह स्पष्ट हो जाता है, कि इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश था, क्योंकि यह कल्प वर्तमान कन्नौज के भगवान महावीर के जिनालय के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्धमानसूरि जिस रुद्रपल्ली शाखा में हुए वह शाखा विद्वत मुनिजनों और आचार्यों से समृद्ध रही हैं और यही कारण है कि उन्होंने आचारदिनकर जैसे विधि-विधान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। आचारदिनकर के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उस पर श्वेताम्बर परम्परा के साथ ही दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा है। यह स्पष्ट है कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश और उससे लगे हुए बुन्देलखण्ड तथा पूर्वी हरियाणा में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव था। अतः यह स्वाभाविक था कि आचारदिनकर पर दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव आये। स्वयं वर्धमानसूरि ने भी यह स्वीकार किया है, कि मैंने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों तथा उनमें प्रचलित

इन विधानों की जीवित परम्परा को देखकर ही इस ग्रंथ की रचना की है। ग्रन्थ प्रशस्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूद्रपल्ली शाखा लगभग बारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आई और उन्नीसवीं शताब्दी तक अस्तित्व में बनी रही। यद्यपि यह सत्य है कि सोलहवीं शती के पश्चात् इस शाखा में कोई प्रभावशाली विद्वान आचार्य नहीं हुआ, किन्तु यति परम्परा और उसके पश्चात् कुलगुरु (मथेण) के रूप में यह शाखा लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रही।

ग्रन्थकार वर्धमानसूरि का परिचय :-

जहाँ तक प्रस्तुत कृति के रचियता वर्धमानसूरि का प्रश्न है, उनके गृही जीवन के सम्बन्ध में हमें न तो इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से और न किसी अन्य साधन से कोई सूचना प्राप्त होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनका जन्म रूद्रपल्ली शाखा के प्रभाव क्षेत्र में ही कही हुआ होगा। जालन्धर (पंजाब) में ग्रन्थ रचना करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका विचरण और स्थिरता का क्षेत्र पंजाब और हरियाणा रहा होगा। इनके गुरु अभयदेवसूरि (तृतीय) द्वारा फाल्गुन सुद तीज, शुक्रवार वि.स. 1432 में अंजनशलाका की हुई शान्तिनाथ भगवान की धातु की प्रतिमा, आदिनाथ जिनालय पूना में उपलब्ध हैं। इससे यह सुनिश्चित है कि वर्धमानसूरि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए। इनके गुरु अभयदेवसूरि द्वारा दीक्षित होने के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं की जा सकती। किन्तु इनकी दीक्षा कब ओर कहाँ हुई इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है।

ग्रंथकर्ता और उसकी परम्परा की इस चर्चा के पश्चात् हम ग्रंथ के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे।

ग्रन्थ की विषयवस्तु :-

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में रचित है। भाषा की दृष्टि से इसकी संस्कृत भाषा अधिक प्रांजल नहीं है और न अलंकार आदि के घटाटोप से विलसित है। ग्रन्थ सामान्यतया: सरल संस्कृत में ही रचित है। यद्यपि जहाँ-जहाँ आगम और प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ है, वहाँ-वहाँ इसमें प्राकृत पद्य और गद्य अवतरित भी किए गए हैं। कहीं कहीं तो यह भी देखने में आया है कि प्राकृत का पूरा का पूरा ग्रन्थ ही अवतरित कर दिया गया है, जैसे प्रायश्चित्त विधान के सम्बन्ध में जीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प आदि ग्रन्थ उद्धरित हुए। ग्रन्थ की जो प्रति प्रथमतः प्रकाशित हुई है, उसमें संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ देखने में आती हैं - इन अशुद्धियों के कारण का यदि हम विचार करें तो दो संभावनाएँ

प्रतीत होती हैं - प्रथमतः यह हो सकता है कि जिस हस्त प्रत के आधार पर यह ग्रन्थ छपाया गया हो वहीं अशुद्ध रही हो, दूसरे यह भी सम्भावना हो सकती है कि प्रस्तुत ग्रंथ का पुष्प रीडिंग सम्यक् प्रकार से नहीं किया गया हो। चूँकि इस ग्रंथ का अन्य कोई संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ है और न कोई हस्तप्रत ही सहज उपलब्ध है - ऐसी स्थिति में पूज्या साध्वी जी ने इस अशुद्ध प्रत के आधार पर ही यह अनुवाद करने का प्रयत्न किया है, अतः अनुवाद में यत्र-तत्र स्खलन की कुछ सम्भावनाएँ हो सकती हैं। क्योंकि अशुद्ध पाठों के आधार पर सम्यक् अर्थ का निर्धारण करना एक कठिन कार्य होता है। फिर भी इस दिशा में जो यह प्रयत्न हुआ है, वह सराहनीय ही कहा जाएगा।

यद्यपि जैन परम्परा में विधि-विधान से सम्बन्धित अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तु प्रकरण से लेकर आचारदिनकर तक विधि-विधान सम्बन्धी ग्रंथों की समृद्ध परम्परा रही है, किन्तु आचारदिनकर के पूर्व जो विधि-विधान सम्बन्धी ग्रंथ लिखे गए उन ग्रंथों में दो ही पक्ष प्रबल रहे - 1. मुनि आचार सम्बन्धी ग्रंथ और 2. पूजा पाठ, प्रतिष्ठा सम्बन्धी ग्रन्थ। निर्वणकलिका, विधिमार्गप्रपा, समाचारी, सुबोधासमाचारी आदि ग्रंथों में हमें या तो दीक्षा आदि मुनि जीवन से सम्बन्धित विधि-विधान का उल्लेख मिलता है या फिर मन्दिर एवं मूर्ति निर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, मूर्ति पूजा आदि से सम्बन्धित विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है। इन पूर्ववर्ती ग्रन्थों में श्रावक से सम्बन्धित जो विधि-विधान मिलते हैं, उनमें से मुख्य रूप से सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण एवं उपधान से सम्बन्धित ही विधि-विधान मिलते हैं। सामान्यतः गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित संस्कारों के विधि-विधानों का उनमें प्रायः अभाव ही देखा जाता है। यद्यपि आगम युग से ही जन्म, नामकरण आदि सम्बन्धी कुछ क्रियाओं (संस्कारों) के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु तत्संबन्धी जैन परम्परा के अनुकूल विधि-विधान क्या थे ? इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती है।

दिगम्बर परम्परा के पुराण साहित्य में भी इन संस्कारों के उल्लेख तथा उनके करने सम्बन्धी कुछ निर्देश तो मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी एक सुव्यवस्थित समग्र विधि-विधान का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। वर्धमानसूरि का आचारदिनकर जैन परम्परा का ऐसा प्रथम ग्रंथ है, जिसमें गृहस्थ के षोडश संस्कारों सम्बन्धी विधि-विधानों का सुस्पष्ट विवेचन हुआ है।

आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ चालीस उदयों में विभाजित है। आचार्य वर्धमानसूरि ने स्वयं ही इन चालीस उदयों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है। प्रथम विभाग में गृहस्थ सम्बन्धी षोडश संस्कारों का विवेचन है, दूसरे विभाग में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का विवेचन है और अन्तिम तृतीय खण्ड के आठ उदयों में गृहस्थ और मुनि दोनों द्वारा सामान्य रूप से आचरणीय

आठ विधि-विधानों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में वर्णित चालीस विधि-विधानों को निम्न सूची द्वारा जाना जा सकता है :-

(अ) गृहस्थ सम्बन्धी	(ब) मुनि सम्बन्धी	(स) मुनि एवं गृहस्थ सम्बन्धी
1 गर्भाधान संस्कार	1 ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण संस्कार	1 प्रतिष्ठा विधि
2 पुंसवन संस्कार	2 क्षुल्लक विधि	2 शान्तिक-कर्म विधि
3 जातकर्म संस्कार	3 प्रव्रज्या विधि	3 पौष्टिक-कर्म विधि
4 सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार	4 उपस्थापना विधि	4 बलि विधान
5 क्षीराशन संस्कार	5 योगोद्धहन विधि	5 प्रायश्चित्त विधि
6 षष्ठी संस्कार	6 वाचनाग्रहण विधि	6 आवश्यक विधि
7 शुचि संस्कार	7 वाचनानुज्ञा विधि	7 तप विधि
8 नामकरण संस्कार	8 उपाध्यायपद स्थापना विधि	8 पदारोपण विधि
9 अन्न प्राशन संस्कार	9 आचार्यपद स्थापना विधि	
10 कर्णविध संस्कार	10 प्रतिमाउद्धहन विधि	
11 चूडाकरण संस्कार	11 व्रतिनी व्रतदान विधि	
12 उपनयन संस्कार	12 प्रवर्तिनीपद स्थापना विधि	
13 विद्यारम्भ संस्कार	13 महत्तरापद स्थापना विधि	
14 विवाह संस्कार	14 अहोरात्र चर्या विधि	
15 व्रतारोपण संस्कार	15 ऋतुचर्या विधि	
16 अन्त्य संस्कार	16 अन्तसंलेखना विधि	

तुलनात्मक विवेचन :-

जहाँ तक प्रस्तुत कृति में वर्णित गृहस्थ जीवन सम्बन्धी षोडश संस्कारों का प्रश्न है, ये संस्कार सम्पूर्ण भारतीय समाज में प्रचलित रहे हैं, सत्य यह है कि ये संस्कार धार्मिक संस्कार न होकर सामाजिक संस्कार रहे हैं और यही कारण है कि भारतीय समाज के श्रमण धर्मों में भी इनका उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा के आगमों जैसे ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रशनीय, कल्पसूत्र आदि में इनमें से कुछ संस्कारों का जैसे जातकर्म या जन्म संस्कार, सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्यारम्भ संस्कार आदि का उल्लेख मिलता है, फिर भी जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है उनमें मात्र इनके नामोल्लेख ही है। तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का विस्तृत विवेचन नहीं है। जैन आगमों में गर्भाधान संस्कार का उल्लेख न होकर शिशु के गर्भ में आने पर माता द्वारा स्वप्नदर्शन का ही उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार विवाह के भी कुछ उल्लेख है, किन्तु उनमें व्यक्ति के लिए विवाह की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं

हैं और न तत्सम्बन्धी किसी विधि विधान का उल्लेख हैं। दिगम्बर परम्परा के पुराण ग्रंथों में भी इनमें से अधिकांश संस्कारों का उल्लेख हुआ है, किन्तु उपनयन आदि संस्कार जो मूलतः हिन्दू परम्परा से ही सम्बन्धित रहे हैं, उनके उल्लेख विरल है। दिगम्बर परम्परा में मात्र यह निर्देश मिलता है कि भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने व्रती श्रावकों को स्वर्ण का उपनयन सूत्र प्रदान किया था। वर्तमान में भी दिगम्बर परम्परा में उपनयन (जनेउ) धारण की परम्परा है। इस प्रकार जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही प्रमुख परम्पराओं में एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में इन संस्कारों के निर्देश तो हैं, किन्तु मूलभूत ग्रंथों में तत्सम्बन्धी किसी भी विधि-विधान का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वर्धमानसूरि की प्रस्तुत कृति का यह वैशिष्ट्य है, कि उसमें सर्वप्रथम इन षोडश संस्कारों का विधि-विधान पूर्वक उल्लेख किया गया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, वर्धमानसूरिकृत इस आचारदिनकर नामक ग्रन्थ से पूर्ववर्ती किसी भी जैन ग्रन्थ में इन षोडश संस्कारों का उनके विधि-विधान पूर्वक उल्लेख नहीं हुआ। मात्र यहीं नहीं परवर्ती ग्रन्थों में भी ऐसा सुव्यवस्थित विवेचन उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में षोडश संस्कार विधि, जैन विवाहविधि आदि के विधि-विधान से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हैं, किन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है, श्वेताम्बर परम्परा में वर्धमानसूरि के पूर्व और उनके पश्चात् भी इन षोडश संस्कारों से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। इस प्रकार जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का विधिपूर्वक उल्लेख करने वाला यही एकमात्र अद्वितीय ग्रन्थ है। वर्धमानसूरि की यह विशेषता है, कि उन्होंने गर्भाधान संस्कार को हिन्दू परम्परा के सीमान्त संस्कार के पूर्व रूप में स्वीकार किया है और यह माना है कि गर्भ के स्पष्ट लक्षण प्रकट होने पर ही यह संस्कार किया जाना चाहिए। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत गर्भाधान संस्कार वस्तुतः गर्भाधान संस्कार न होकर सीमान्त संस्कार का ही पूर्व रूप है। वर्धमानसूरि ने गृहस्थ सम्बन्धी जिन षोडश संस्कारों का विधान किया है, उनमें से व्रतारोपण को छोड़कर शेष सभी संस्कार हिन्दू परम्परा के समरूप ही प्रस्तुत किए गए हैं, यद्यपि संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान में जैनत्व को प्रधानता दी गई है और तत्सम्बन्धी मंत्र भी जैन परम्परा के अनुरूप ही प्रस्तुत किए गए हैं।

वर्धमानसूरि द्वारा विरचित षोडश संस्कारों और हिन्दू परम्परा में प्रचलित षोडश संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि इस ग्रन्थ में हिन्दू परम्परा के षोडश संस्कारों का मात्र जैनीकरण किया गया है। किन्तु जहाँ हिन्दू परम्परा में विवाह संस्कार के पश्चात् वानप्रस्थ संस्कार का उल्लेख होता है, वहाँ वर्धमानसूरि ने विवाह संस्कार के पश्चात् व्रतारोपण संस्कार का उल्लेख किया है। व्रतारोपण संस्कार वानप्रस्थ संस्कार से भिन्न है,

क्योंकि यह गृहस्थ जीवन में ही स्वीकार किया जाता है। पुनः वह ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण और क्षुल्लक दीक्षा से भी भिन्न हैं, क्योंकि दोनों में मौलिक दृष्टि से यह भेद है कि ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण तथा क्षुल्लक दीक्षा दोनों में ही स्त्री का त्याग अपेक्षित होता है, जबकि वानप्रस्थाश्रम स्त्री के साथ ही स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इसकी क्षुल्लक दीक्षा से इस अर्थ में समानता है कि दोनों ही सन्यास की पूर्व अवस्था एवं गृह त्याग रूप हैं।

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के दूसरे खण्ड में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का उल्लेख है। इन संस्कारों में जहाँ एक और मुनि जीवन की साधना एवं शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विधि-विधान हैं, वही दूसरी और साधु-साध्वी के संघ संचालन सम्बन्धी विविध पद एवं उन पदों पर स्थापन की विधि दी गई है। मुनि जीवन से सम्बन्धित ये विधि-विधान वस्तुतः जैन संघ की अपनी व्यवस्था है। अतः अन्य परम्पराओं में तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। वर्धमानसूरि के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में यह विशेषता है कि वह मुनि की प्रव्रज्या विधि के पूर्व, ब्रह्मचर्य व्रत संस्कार और क्षुल्लक दीक्षा विधि को प्रस्तुत करता है। श्वेताम्बर परम्परा के उनसे पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार विधि-विधान का कहीं भी उल्लेख नहीं है, यद्यपि प्राचीन आगम ग्रंथों जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में क्षुल्लकाचार नामक अध्ययन मिलते हैं, किन्तु वे मूलतः नवदीक्षित मुनि के आचार का ही विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा और क्षुल्लक दीक्षा के निर्देश मिलते हैं और श्वेताम्बर परम्परा में भी गृहस्थों द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया जाता है और तत्सम्बन्धी प्रतिज्ञा के आलापक भी है, किन्तु क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी कोई विधि-विधान मूल आगम साहित्य में नहीं है मात्र तत्सम्बन्धी आचार का उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा में सामायिक चारित्र ग्रहण रूप जिस छोटी दीक्षा का और छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण रूप बड़ी दीक्षा के जो उल्लेख हैं, वे प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रव्रज्याविधि और उपस्थापनाविधि के नाम से विवेचित है।

वर्धमानसूरि की यह विशेषता है कि वे ब्रह्मचर्य व्रत से संस्कारित या क्षुल्लक दीक्षा गृहीत व्यक्ति को गृहस्थों के व्रतारोपण को छोड़कर शेष पन्द्रह संस्कारों को करवाने की अनुमति प्रदान करते हैं। यही नहीं यह भी माना गया है कि मुनि की अनुपस्थिति में क्षुल्लक भी गृहस्थ को व्रतारोपण करवा सकता है। उन्होंने क्षुल्लक का जो स्वरूप वर्णित किया है, वह भी वर्तमान में दिगम्बर परम्परा की क्षुल्लक दीक्षा से भिन्न ही है। क्योंकि दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक दीक्षा आजीवन के लिए होती है। साथ ही क्षुल्लक को गृहस्थ के संस्कार करवाने का अधिकार भी नहीं है। यद्यपि क्षुल्लक के जो कार्य वर्धमानसूरि ने

बताए हैं, वे कार्य दिगम्बर परम्परा में भट्टारकों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। गृहस्थ के विधि-विधानों की चर्चा करते हुए, उन्होंने जैन ब्राह्मण एवं क्षुल्लक का बार-बार उल्लेख किया है, इससे ऐसा लगता है कि प्रस्तुत कृति के निर्माण में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा है। स्वयं उन्होंने अपने उपोद्घात में भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मैंने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित जीवन्त परम्परा को और उनके ग्रन्थों को देखकर इस ग्रन्थ की रचना की है। वर्धमानसूरि गृहस्थ सम्बन्धी संस्कार हेतु जैन ब्राह्मण की बात करते हैं, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में जैन ब्राह्मण कोई व्यवस्था रही है, ऐसा उस परम्परा के ग्रन्थों से ज्ञात नहीं होता है। सम्भावना यही है श्वेताम्बर परम्परा शिथिल यतियों के द्वारा वैवाहिक जीवन स्वीकार करने पर जो मत्थेण, गौरजी महात्मा आदि की जो परम्परा प्रचलित हुई थी और जो गृहस्थों के कुलगुरु का कार्य भी करते थे, वर्धमानसूरि का जैन ब्राह्मण से आशय उन्हीं से होगा। लगभग 50 वर्ष पूर्व तक ये लोग यह कार्य सम्पन्न करवाते थे।

इस कृति के तृतीय खण्ड में मुनि एवं गृहस्थ दोनों से सम्बन्धित आठ संस्कारों का उल्लेख किया है, किन्तु यदि हम गंभीरता से विचार करें तो प्रतिष्ठा विधि, शान्तिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलिविधान इन चार का सम्बन्ध मुख्यतः गृहस्थों से है, क्योंकि ये संस्कार गृहस्थों द्वारा और उनके लिए ही सम्पन्न किये जाते हैं। यद्यपि प्रतिष्ठा विधि की अवश्य कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं, जिन्हें आचार्य या मुनिजन भी सम्पन्न करते हैं। जहाँ तक प्रायश्चित्त विधान का प्रश्न है, हम देखते हैं कि जैन आगमों में और विशेष रूप से छेदसूत्रों यथा व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र, जीतकल्प आदि में और उनकी निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णों में सामान्यतः मुनि की ही प्रायश्चित्त विधि का उल्लेख है। गृहस्थ की प्रायश्चित्त विधि का सर्वप्रथम उल्लेख हमें श्राद्धजीतकल्प में मिलता है। दिगम्बर परम्परा के छेदपिण्ड शास्त्र में भी मुनि के साथ-साथ गृहस्थ के प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधि-विधान का उल्लेख है। आचारदिनकर में प्रायश्चित्त विधि को प्रस्तुत करते हुए वर्धमानसूरि ने अपनी तरफ से कोई बात न कह कर जीतकल्प, श्रावक जीतकल्प आदि प्राचीन ग्रंथों को ही पूर्णतः उद्धृत कर दिया है। आवश्यक विधि मूलतः श्रावक प्रतिक्रमण विधि और साधु प्रतिक्रमण विधि को ही प्रस्तुत करती है। जहाँ तक तप विधि का सम्बन्ध है, इसमें वर्धमानसूरि ने छः बाह्य एवं छः आभ्यन्तर तपों के उल्लेख के साथ-साथ आगम युग से लेकर अपने काल तक प्रचलित विभिन्न तपों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। जहाँ तक पदारोपण विधि का प्रश्न है, यह विधि मूलतः सामाजिक जीवन और राज्य प्रशासन में प्रचलित पदों पर आरोपण की विधि को ही प्रस्तुत करती है। इस विधि में यह विशेषता है कि इसमें राज्य-हस्ती, राज्य-अश्व आदि के भी पदारोपण का

उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि वर्धमानसूरि ने उस युग में प्रचलित व्यवस्था से ही इन विधियों का ग्रहण किया है। जहाँ तक प्रतिष्ठा विधि, शान्तिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान का प्रश्न है। ये चारों ही विधियाँ मेरी दृष्टि में जैनाचार्यों ने हिन्दू परम्परा से ग्रहीत करके उनका जैनीकरण मात्र किया गया है। क्योंकि प्रतिष्ठा विधि में तीर्थकर परमात्मा को छोड़कर जिन अन्य देवी देवताओं जैसे - दिग्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, यक्ष-यक्षिणी आदि के जो उल्लेख है, वे हिन्दू परम्परा से प्रभावित लगते हैं या उनके समरूप भी कहे जा सकते हैं। ये सभी देवता हिन्दू देव मण्डल से जैन देव मण्डल में समाहित किये गये हैं। इसी प्रकार कूप, तडाग, भवन आदि की प्रतिष्ठा विधि भी उन्होंने हिन्दू परम्परा से ही ग्रहण की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्धमानसूरि ने एक व्यापक दृष्टि को समक्ष रखकर जैन परम्परा और तत्कालीन समाज व्यवस्था में प्रचलित विविध विधि-विधानों का इस ग्रन्थ में विधिवत् और व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है जैन धर्म में उनसे पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने साधु जीवन से सम्बन्धित विधि-विधानों का एवं जिनबिंब की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित विधि-विधान पर तो ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु सामाजिक जीवन से सम्बन्धित संस्कारों के विधि-विधानों पर इतना अधिक व्यापक और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न सम्भवतः वर्धमानसूरि ने ही किया है। वस्तुतः जहाँ तक मेरी जानकारी है। समग्र जैन परम्परा में विधि-विधानों को लेकर आचारदिनकर ही एक ऐसा आकर ग्रन्थ है जो व्यापक दृष्टि से एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर विधि-विधानों का उल्लेख करता है।

आचारदिनकर विक्रमसंवत् 1468 तदनुसार ई. सन् 1412 में रचित हैं। यह ग्रन्थ मूलतः संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में होने के कारण आधुनिक युग में न तो विद्वत ग्राह्य था और न जनग्राह्य। यद्यपि यह ग्रन्थ अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित भी हुआ, किन्तु अनुवाद के अभाव में लोकप्रिय नहीं बन सका। दूसरे ग्रन्थ की भाषा संस्कृत एवं प्राकृत होने के कारण तथा उनमें प्रतिपादित विषयों के दुरुह होने के कारण इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी या गुजराती में आज तक कोई अनुवाद नहीं हो सका था। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का पुरानी हिन्दी में रूपान्तरण का एक प्रयत्न तो अवश्यक हुआ, जो जैन तत्त्व प्रसाद में छपा भी था, किन्तु समग्र ग्रन्थ अनुदित होकर आज तक प्रकाश में नहीं आ पाया। साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने ऐसे दुरुह और विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके लिए वे निश्चित ही बधाई की पात्र हैं। इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए न केवल भाषाओं के ज्ञान की ही अपेक्षा थी, अपितु उसके साथ-साथ ज्योतिष एवं परम्परा के ज्ञान की भी अपेक्षा

थी। साथ ही हमारे सामने एक कठिनाई यह भी थी कि जो मूलग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, वह इतना अशुद्ध छपा था कि अर्थ बोध में अनेकशः कठिनाईयों उपस्थिति होती रही,, अनेक बार साध्वी जी और मैं उन समस्याओं के निराकरण में निराश भी हुए फिर भी इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहा है यह संतोष का विषय है। ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इसका प्रथम खण्ड विद्वानों और पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। दूसरे और तीसरे खण्ड का अनुवाद भी पूर्ण हो चुका है, उनके कुछ अंश स्पष्टीकरण या परिमार्जन हेतु पूज्य मुनि प्रवर जम्बूविजयजी और मुनि श्रीयशोविजय जी को भेजे गये हैं, वे अंश उनके द्वारा संशोधित होकर मिलने पर अग्रिम दो खण्डों के प्रकाशन को भी गति मिलेगी। पूज्या साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी इसी प्रकार आगे भी जिनवाणी के अध्ययन, अनुशीलन और प्रकाशन में रुचि लेती रहें, यही अपेक्षा है। विद्वत्जन जिस कार्य को चाहकर भी अभी तक सम्पन्न नहीं कर पाये थे। उसे मेरे सहयोग से एक अल्प दीक्षापर्याय की युवा साध्वी ने अथक परिश्रम कर पूर्ण किया यह मेरे लिए भी आत्मतोष का विषय है। वस्तुतः मैंने उन्हें शोधकार्य हेतु इस ग्रन्थ का नाम सुझाया था, किन्तु अनुवाद के बिना यह कार्य शक्य नहीं हो रहा था। हमने अनुवाद की प्राप्ति के प्रयास भी किये, किन्तु वे सार्थक नहीं हो सके। अतः प्रथमतः अनुवाद की योजना बनाई गई, प्रस्तुत कृति उसी की फलश्रुति है। विद्वत्वर्ग द्वारा इसके समुचित मूल्यांकन की अपेक्षा है, ताकि साध्वी जी का उत्साह वर्धन हो।

शरद पूर्णिमा वि.सं. 2062
दिनांक :- 17-10-2005

प्रो. सागरमल जैन
संस्थापक निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ,
दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)

!! विषय अनुक्रमणिका !!

	पृष्ठ संख्या
पूर्वपीठिका	1-8
गर्भाधान संस्कार विधि	9-14
पुंसवन संस्कार विधि	15-16
जन्म संस्कार विधि	17-19
सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार विधि	20-21
क्षीराशन संस्कार विधि	22-22
षष्ठी संस्कार विधि	23-25
शुचिकर्म संस्कार विधि	26-27
नामकरण संस्कार विधि	28-29
अन्नप्राशन संस्कार विधि	30-31
कर्णवेध संस्कार विधि	32-33
चूडाकरण संस्कार विधि	34-35
उपनयन संस्कार विधि	36-58
विद्यारंभ संस्कार विधि	59-60
विवाह संस्कार विधि	61-78
व्रतारोपण संस्कार विधि	79-128
अन्त्य संस्कार विधि	129-136

पूर्वपीठिका

लोक में आचार-मार्ग का प्रतिपादन करने वाले तत्त्ववेत्ता आद्ययोगी आदिनाथ को मैं वर्धमानसूरि प्रयोजनपूर्वक नमस्कार करता हूँ। ॥1॥

प्राणियों के प्रति करुणा करके आत्मकल्याण के उद्देश्य से जिन्होंने स्वयं धर्मचक्र रूप आचार-मार्ग का प्रतिपादन किया, उन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को मैं वंदन करता हूँ। ॥2॥

जिनकी कृपा से तत्त्वज्ञान के पथ पर चलना सुखद हो जाता है और जिन्होंने लोकाचार का प्रतिपादन किया है, उन सर्वात्मा, अर्थात् सर्वज्ञ देव को मैं नमस्कार करता हूँ। ॥3॥

स्वयं अपने पुरुषार्थ से मोक्ष को प्राप्त करने वाले, अनादि तत्त्व के ज्ञाता और जिन्होंने स्वयं आचार-मार्ग का आचरण किया है, उन स्वयंभू, अर्थात् स्वयं परमात्मा पद की प्राप्ति करने वाले को मैं नमस्कार करता हूँ। ॥4॥

जिसके वचन ही 'परावाणी' हैं, जिसकी पूजा (उपासना) परम श्रेय है और जिनके ध्यान से आलोकित परमतत्त्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, ऐसी अर्हद गिरा, अर्थात् जिनवाणी को मैं नमस्कार करता हूँ। ॥5॥

जिनकी कृपा से लोग क्षण-मात्र में सम्यग्ज्ञान, सुकीर्ति एवं समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त करते हैं, उन अम्बिका देवी को मैं नमस्कार करता हूँ। ॥6॥

जिनकी कृपा से मुझ जैसे व्यक्ति भी विद्वानों की सभा में सिंह के समान गर्जना करते हैं, उन गुरु-चरणों में मैं प्रतिक्षण नमस्कार करता हूँ। ॥7॥

करोड़ों उपाय करने पर भी जिस उत्तम तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती, उसकी सुप्राप्ति जिनके प्रसाद से हो जाती है, उन गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ। ॥8॥

जो सत्यज्ञान, अर्थात् सम्यग्ज्ञान, मोक्ष-मार्ग का प्रकाशक एवं कैवल्य का कारण है और जिसका आचरण करते हुए लोगों के ज्ञान चक्षु उन्मीलित होते हैं और जन्म से ही त्रिविध ज्ञान के धारक परम पुरुष ऋषभदेव ने जिस आचार मार्ग का अनुसरण किया है, वही प्रमाण है। ॥9-10॥

आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, चार्वाक आदि षट्दर्शन में कुछ दर्शन मोहरूप अंधकार से ग्रसित बुद्धि वाले होकर लोकमार्ग का अनुसरण करते हैं, उन्हें परमार्थ का स्वरूप ज्ञात नहीं है। कुछ लोग प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की चर्चारूप न्यायशास्त्र में प्रवीण हो उसमें ही अधिक रूचि रखते हुए आचार-मार्ग का तिरस्कार कर देते हैं, उनके कथन सज्जनों को प्रमाण नहीं मानना चाहिए। क्योंकि अर्हन्त भगवान ने भी, जो समस्त परमार्थ को जानते हैं, गर्भ से लेकर राज्याभिषेक तक के सभी संस्कारों को अपने शरीर में धारण किया है तथा गृहस्थ जीवन में सम्यक्त्व से युक्त ही देशविरतिरूप गृहीधर्म एवं प्रतिमावहन ग्रहणरूप आचार का स्वयं आचरण किया है। वे दीर्घकाल तक यतिधर्म तथा तपश्चर्या आदि करते हुए शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर निमेष मात्र में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं तथा केवलज्ञान के प्राप्त होने पर चिदानंदस्वरूप में लीन होकर 'पर' की अपेक्षा का त्याग कर देते हैं।

जो समवसरण की रचना होने पर गणधरों के हृदय के संशयों का छेदन कर तथा उनको गणधर पद पर स्थापित कर धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं, उन भगवान के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर लेने पर इन्द्रादि देवता अपने कर्तव्य के वशीभूत उनके प्राणरहित शरीर का अग्नि संस्कार कर वहाँ स्तूप आदि की रचना करते हैं। आर्हत मत में लोकोत्तर पुरुष द्वारा प्रतिपादित एवं आचरित होने के कारण यह संस्काररूप आचार-मार्ग प्रमाण माना गया है।

तत्त्वज्ञानानुसार मन-वचन-काया के शुभाशुभ आचरण के आधार पर ही शुभाशुभ कर्म का बंध होता है। अतएव आश्रव और संवर के द्रव्य व भाव-ऐसे दो भेद की अपेक्षा से वह आचार भी क्रियारूप तथा त्यागरूप-ऐसा दो प्रकार का होता है।

सौगतों अर्थात् बौद्धों के शून्यवादी मत में भी सुखासन आदि शारीरिक क्रियाएँ, बुद्ध की अर्चनारूप क्रियाएँ एवं मंत्रस्मरण आदि क्रियाएँ आचरण के योग्य मानी गई हैं। वैशेषिकों के मत में, जो विशेष परीक्षारूप आचार है, वह पूर्वाचार की स्थापना का हेतु है। जैसा कि कहा गया है - "क्रियात्मक व्यवहार के अभाव में विशेष ज्ञान नहीं होता है।" नैयायिकों के मत में प्रमाण 'उपलम्भरूप न्याय-विधि' है। वह उपलम्भ रूप ज्ञान भी क्रिया की प्रतिपत्ति के बिना संभव नहीं है। इस प्रकार उन नैयायिक आदि के लिए भी आचार ही प्रमाण है। सांख्यों के तत्त्वज्ञान में भी पुरुष द्वारा

प्रकृति के उपभोग के लिए लंगड़े तथा अन्धे के समान दोनों का प्राथमिक सहयोग आचार के ही अन्तर्भूत है। चार्वाकों के नास्तिकवादी मत में भी हमेशा सभी शुभ आचारों के अनुसरण का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार छहों ही दर्शनों में आचार को ही प्रमाण माना गया है। अन्य मतों की दृष्टि से यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है।

अब प्रस्तुत कार्य के समर्थन के लिए स्वमत में प्रामाण्य रूप में मान्य एवं उपलब्ध आगमों में कहा गया है -

“ज्ञान सभी पुरुषार्थों का मूल है, दर्शन उसका स्कन्ध एवं शाखाएँ हैं, चारित्र उसका फल है और मोक्ष उसका रस है, ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है।”

ऐसे सिद्धांतरूपी सागर में तरंगरूपी चारित्र-धर्म की व्याख्या करने में कौन समर्थ है ? तथापि श्रुत केवली प्रणीत शास्त्रों के अर्थ का आंशिक आलम्बन लेकर किंचित् आचार-योग्य विधि को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है -

वह आचार भी दो प्रकार का है - “यति आचार एवं गृहस्थ आचार”। जैसा कि कहा गया है कि सावद्य-योग परिवर्जनरूप प्रथम यति-धर्म सर्वोत्तम है, दूसरा श्रावक-धर्म है, तीसरा संविग्न पक्ष में, अर्थात् निवृत्ति-मार्ग में पद-न्यास के समान सम्यक्त्व का ग्रहण है।

प्रथम यति-धर्म पंचमहाव्रत, पंचसमिति एवं त्रिगुप्ति के पालनरूप है। उसमें परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करना होता है। ऐन्द्रिक विषयों एवं कषायों पर विजय प्राप्त करना होता है। साथ ही इसमें श्रुत-ज्ञान का ग्रहण एवं बाह्य और आभ्यन्तर तपों का आचरण किया जाता है। इन सबके कारण मोक्ष-मार्ग का यह रूप दुःसाध्य है। गृहस्थ-धर्म परिग्रह धारणरूप होने से सुख-सुविधापूर्ण है। वह यथेष्ट विहार एवं भोगोपभोग आदि के द्वारा क्वचित् शारीरिक सुख देने वाला होने पर भी मोक्ष प्रदान करने में असमर्थ नहीं है। यह (गृहीधर्म) भी द्वादशव्रतों के धारण, मुनिजनों की उपासना, अर्हत् परमात्मा के पूजन तथा दान, शील, तप, भावना आदि के आश्रय से अभिवृद्धि को प्राप्त होता हुआ यतिधर्म के समान ही मोक्ष प्रदाता बन जाता है। जैसा कि आगम में कहा भी गया है -

“यतिधर्म कठिन होने से मोक्ष का समीपवर्ती मार्ग है, जबकि गृहस्थधर्म सुगम होने से मोक्ष का दूरगामी मार्ग है।”

“जुगनू और सूर्य, सरसों का दाना और मेरु पर्वत, घटिका और वर्ष, जूं और हाथी के अन्तर के समान ही गृहस्थ-धर्म एवं यति-धर्म में भी महान् अन्तर है।”

इसलिए यति धर्म ग्रहण करने के पूर्व साधनरूप; अनेक सुर-असुरों, निर्ग्रन्थ यतियों (मुनियों) एवं अन्य परम्परा के साधुओं को संतुष्ट करना जिसका स्वभाव है और जो साधुजनों की सेवादि सत्कर्मों से पवित्र है, ऐसे गृहस्थ धर्म का विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

उस गृहस्थ-धर्म में भी पहले व्यवहार-धर्म का उल्लेख किया जा रहा है, उसके बाद यथार्थ गृहस्थ-धर्म का कथन करेंगे। यह व्यवहार भी प्रमाण है, क्योंकि ऋषभदेव आदि अरिहंत भी गर्भ, जन्म आदि कार्यों में व्यवहार का ही समाचरण करते हैं, आगम में भी कहा गया है :-

“श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता प्रथम दिन (कुल परम्परागत) नालछेदन आदि जन्म सम्बन्धी कार्य करते हैं, तीसरे दिन चंद्र-सूर्य के दर्शन कराते हैं, छठे दिन रात्रि-जागरण करते हैं। बारह दिवस होने पर सूतक निवारण करते हैं और नामकरण संस्कार करते हैं।”

इस प्रकार व्यवहार-कर्म भगवान् के लिए भी आचरित है, ऐसा आगम में निर्दिष्ट है। आचारमार्ग में लोक-व्यवहार ही बलवान् होता है। केवली भगवान् भी छद्मस्थ गुरु को वंदन करते हैं और छद्मस्थमुनि के द्वारा लाये गये आहार का उपभोग करते हैं। इस में व्यवहार-दृष्टि को ही प्रमाण माना गया है।

लौकिक शास्त्रों में भी कहा जाता है :-

“विद्वान् चाहे चार वेदों का धारक हो, फिर भी उसे लौकिक आचार का मन से भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।”

इसलिए यहाँ सर्वप्रथम गृहस्थ जीवन के व्यवहार-धर्म का विवेचन किया जाता है। उसके बाद सम्पूर्ण यति धर्म की व्याख्या करेंगे। मोहान्धकाररूपी मल से रहित यति एवं गृहस्थ के आचार-धर्म का विधान करने वाले ‘आचारदिनकर’ नामक पवित्र शास्त्र में प्रस्तुत संस्कारों का उल्लेख किया जा रहा है-

1. गर्भाधान
2. पुंसवन
3. जन्म
4. चन्द्र एवं सूर्य दर्शन
5. क्षीरासन
6. षष्ठी
7. शुचिकर्म
8. नामकरण
9. अन्नप्राशन
10. कर्णवेध
11. मुण्डन
12. उपनयन
13. पाठारम्भ (शिक्षारम्भ)
14. विवाह
15. व्रत-आरोपण एवं
16. अन्त्यकर्म

ये सोलह संस्कार गृहस्थों के लिए बताए गए हैं।

इसी प्रकार यति धर्म के भी निम्न सोलह संस्कार बताए गए हैं -

1. ब्रह्मचर्य
2. क्षुल्लक
3. प्रव्रज्या
4. उपस्थापना (महाव्रतारोपण)
5. योगोद्वहन
6. वाचनाग्रहण
7. वाचनानुज्ञा (अध्यापन कार्य की अनुमति)
8. उपाध्याय पदारोहण
9. आचार्य पदारोहण
10. प्रतिमा उद्वहन
11. व्रतिनी (साध्वी) का व्रतारोपण
12. प्रवर्तिनीपद प्रदान
13. महत्तरापद प्रदान
14. दिन एवं रात्रि सम्बन्धी आचार
15. ऋतु सम्बन्धी आचार और
16. मरण-विधि

इसके अतिरिक्त 1. चैत्य एवं बिम्बादि की प्रतिष्ठा 2. शान्तिकर्म 3. पौष्टिककर्म 4. बलि-कर्म 5. प्रायश्चित्त-विधि 6. आवश्यक-विधि 7. त्रिविध तप-विधि और 8. पदारोपण - ये आठ क्रियाएँ गृहस्थ एवं मुनि-दोनों के लिए समान रूप से कही गई हैं। इस प्रकार 'आचारदिनकर' नामक इस ग्रन्थ में क्रमशः उपर्युक्त 40 द्वार प्रतिपादित किए गए हैं।

यहाँ प्रथम उदय (अधिकरण) में गर्भाधान नामक संस्कार की विधि बताई गई है। इसमें विधिपूर्वक शांतिदेवी के परम मंत्र से वेद की स्थापना करना चाहिए।

द्वितीय उदय में पुंसवन संस्कार की विधि कही गई है।

तृतीय उदय में जातकर्म की विधि बताई गई है।

चौथें उदय में सूर्य-चन्द्र के दर्शन की विधि का वर्णन है।

पाँचवें उदय में क्षीर भोजन की विधि का उल्लेख है।

छठें उदय में षष्ठी जागरण और माताओं (देवियों) की पूजा का विधान बताया गया है।

सातवें उदय में शुचिकर्म का वर्णन किया गया है।

आठवें उदय में नामकरण, ग्रह, लग्नादि की पूजा एवं मण्डलपूजन की विधि बताई गई है।

नवें उदय में अन्न-प्राशन संस्कार का वर्णन है।

दसवें उदय में कर्णछेदन की विधि का उल्लेख किया गया है।

ग्यारहवें उदय में मुण्डन-विधि बताई गई है।

बारहवें उदय में उपनयन-संस्कार का उल्लेख है। इसमें जिन उपवीत का स्वरूप, उसकी विधि, व्रत-धारण एवं व्रतादेश का विवेचन है। साथ ही व्रत-विसर्जन एवं गोदान का उल्लेख है। इसी उदय में चारों

वर्णों के उपवीत-संस्कार में व्रतग्रहण की शिक्षा का तथा शूद्र के बटूकरण में उत्तरीय धारण करने का उल्लेख है।

तेरहवें उदय में अध्ययन-विधि का उल्लेख किया गया है।

चौदहवें उदय में प्रजापति आदि आठ प्रकार के विवाहों का विस्तार से उल्लेख है। इसके साथ ही वेदी-स्थापन, कुलकरोँ की पूजा एवं अग्निस्थापना-विधि, अग्निसंतर्पण -विधि एवं उत्तम अर्ध्य-विधि आदि उल्लेखित हैं। इसके अन्तर्गत लाजामोक्षण (भुना हुआ धान बिखेरना) और गणिका-विवाह की विधि भी दी गई है।

पन्द्रहवें उदय में सम्यक्त्व-आरोपण, द्वादशव्रतारोपण, प्रतिमा-उद्वहन का तथा उपधान एवं तपश्चर्या में मालारोपण-विधि का निर्देश है। इसी उदय में परिग्रह-परिमाण तथा गृहस्थ की दिन व रात्रि की चर्या विधि भी उल्लेखित है। अर्हत (की) पूजा-विधि के उल्लेख में लघुस्नात्र-विधि, दिक्पाल व ग्रहों की पूजा, लघुउपधान, नंदी की स्थापना आदि की विधियों के उल्लेख हैं।

सोलहवें उदय में मृत्युविधि के अन्तर्गत उत्तमार्थ (संलेखनाव्रत) की आराधना, चतुःशरण (चतुःस्मरण), क्षमापना, अन्त्य-संस्कार आदि के विधि-विधान गृहस्थों को लक्ष्य में रखकर बताए गए हैं।

सत्रहवें उदय में ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने की विधि बताई गई है।

अठारहवें उदय में क्षुल्लक-दीक्षा की विधि का विवेचन है।

उन्नीसवें उदय में गृहत्याग-विधि एवं प्रवज्या-ग्रहण की विधि दी गई है।

बीसवें उदय में पुनः उपस्थापन एवं महाव्रतोच्चार की विधि का निर्देश है।

इक्कीसवें उदय में योगोद्वहन करने की विधि, काल-ग्रहण की विधि, स्वाध्याय, प्रस्थापना, खमासमणा सूत्रपूर्वक वंदन की योजना-विधि, कायोत्सर्ग विधि, वंदन विधि, संघट्टा (संस्पर्श की विधि), पेयविधि, प्रतिदिन की क्रिया तथा अर्द्धवार्षिक योग (छःमासी योग) की विधि विवेचित है।

बाईसवें उदय में वाचना की विधि का वर्णन है।

तेईसवें उदय में वाचनाचार्य पद-प्राप्ति की विधि दी गई है।

चौबीसवें उदय में उपाध्यायपद-आरोपण की विधि का वर्णन है।

पच्चीसवें उदय में आचार्यपद-आरोपण की विधि एवं उससे होने वाले गुण-दोषों की चर्चा है।

छब्बीसवें उदय में व्रतधारियों (मुनियों) द्वारा प्रतिमाओं के वहन करने की प्रक्रिया का वर्णन है।

सत्ताईसवें उदय में साध्वियों की व्रतारोपण, अर्थात् प्रव्रज्या-विधि का वर्णन है।

अट्ठाईसवें उदय में प्रवर्तिनी-पद पर स्थापना की विधि बताई गई है।

उनतीसवें उदय में महत्तरा-पद पर स्थापना की विधि एवं महत्तरा के गुणों का निर्देश किया गया है।

तीसवें उदय में साधु-साध्वियों की दिन एवं रात्रि की क्रियाओं का एवं उनके उपकरणों का वर्णन है।

एकतीसवें उदय में साधु-साध्वियों की ऋतुचर्या का तथा विहार व लोच की विधि का स्पष्टीकरण किया गया है।

बत्तीसवें उदय में मुनि-मरणोत्तर क्रिया-विधि का वर्णन है।

तेतीसवें उदय में चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, जलाशय, कूप आदि की प्रतिष्ठा-विधि का विवेचन है। इसमें सभी देवों के आह्वान, स्थापना और पूजा की विधि भी दी गई है। साथ ही इसमें बृहत् स्नात्रपूजा-विधि, नन्द्यावर्त आदि की पूजा-विधि, कंकणछोटन-विधि, अष्टमंगल पूजा-विधि एवं तत्संबंधी पूजा-सामग्री हेतु 360 क्रियाणकों की सूची, हव्यग्नि आदि का विवेचन है।

चौतीसवें उदय में सभी प्रकार के पूजान्वित शान्तिक-कर्म की विधि तथा मूलादि नक्षत्रों एवं ग्रहों की शान्ति की विधि बताई गई है।

पैंतीसवें उदय में पौष्टिक कर्म की विधि का विधान है।

छत्तीसवें उदय में बलिकर्म की विधि बताई गई है।

सैंतीसवें उदय में प्रायश्चित्त-विधि का विवेचन है। यह विधि जीतकल्प पर आधारित है। यह विधि साधु एवं गृहस्थ के जीवन के प्रयोजन का शोधन तो करती ही है, साथ ही दुष्कर्मों एवं बाह्य व्यवहार का भी उत्तम रीति से शोधन करने वाली है।

अड़तीसवें उदय में आवश्यक विधि के अन्तर्गत सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान के स्वरूप पर विचार किया गया है तथा विकृति आदि के स्वरूप की सम्यक् व्याख्या की गई है। साथ ही इसी उदय के अन्तर्गत पाक्षिक प्रतिक्रमण सूत्र, यति एवं श्रावक-प्रतिक्रमण-सूत्र की व्याख्या, शक्रस्तव नामक अर्हत् एवं सिद्ध

परमात्मा की स्तुति की व्याख्या तथा अन्य स्तुति स्तोत्रों की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार इसमें वन्दन आदि की व्याख्या, आलोचना आदि में क्षमापना की विधि, स्थापनाचार्य एवं कालदण्ड आदि के परिमाण का भी विवेचन है।

उनचालीसवें उदय में त्रिविध प्रकार के तप की विधि को विवेचित किया गया है।

चालीसवें उदय में पदारोपण का महत्त्व बताया गया है। इसमें ब्रतियों, ब्राह्मणों और क्षत्रियों की शासन व्यवस्था का और सामन्त, मण्डलाधिकारी, मंत्री आदि की पद-स्थापना की विधि का विवेचन है। साथ ही वैश्य, शूद्रादि सहायकों की पद-स्थिति का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें सभी वर्णों के नामों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के चालीस उदयों में विविध विषयों का निर्देश है। उदयों का वर्गीकरण इस ग्रन्थ की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया है।

यहाँ इस ग्रन्थ में जो कुछ भी कहा गया है, वह सब अर्हत् मत का आश्रय लेकर कहा गया है। मिथ्यादृष्टियों के व्यवहार को लेशमात्र भी नहीं दिखाया गया है।

साधुओं द्वारा सुखपूर्वक या सरलता से समझा जा सके, यह सोचकर इस आचारशास्त्र में विद्वत्ता या ज्ञान के वैभव को प्रदर्शित नहीं किया गया है। बृहत्सनात्र आदि में किंचित् यमक आदि का निर्देश है। इससे विद्वान यह न समझे कि यह कृति किसी मूढ़ के द्वारा लिखी गई है। हमने यहाँ जिस रूप में भी पाठ आदि और उनके उच्चारण आदि दिए हैं, वे सब सामान्यजन को बोधगम्य हो, इसे दृष्टि में रखकर ही दिए हैं न कि अपनी अल्पज्ञता के कारण।

इस प्रकार इस पीठिका में इस ग्रन्थ के चालीस अधिकारों की योजना प्रस्तुत की गई है। अनुष्टुप छन्दों की अपेक्षा से इस ग्रन्थ का ग्रन्थ का आकार 12500 श्लोक परिमाण है।

// पहला उदय //

गर्भाधान संस्कार

आचारदिनकर में कहा गया है कि व्रतारोपण को छोड़कर शेष पन्द्रह संस्कार गृहस्थों के लिए करणीय हैं। यतियों के लिए ये कर्म (संस्कार) करवाना वर्जित है।

जैसा आगम में कहा गया है -

“जो साधु जय-पराजय, ज्योतिष एवं सांसारिक कर्म करता हो तथा जो विद्या तथा मंत्र आदि का प्रयोग करता है, वह साधु विराधक होता है।”

गृहस्थों के ये पन्द्रह संस्कार किसके द्वारा किए जाने चाहिए ? इसके लिए आगम में कहा गया है -

“अर्हत् मंत्र से उपनीत परमार्हत्, अर्थात् जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक जिसने इस हेतु अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त की है, वे गृहस्थों के ये संस्कार करवाए।”

गर्भाधान-संस्कार की विधि :-

गर्भाधान के पश्चात् पाँचवा मास पूर्ण होने पर गर्भाधान-विधि की क्रिया गृहस्थ गुरु के द्वारा करवाई जानी चाहिए। गर्भाधान-संस्कार, पुसंवन-संस्कार एवं जन्म-संस्कार नाम संस्कार अंत आदि संस्कार आवश्यक कर्म होने से शुभ मास, तिथि एवं दिन आदि की शुद्धि देखे बिना भी निश्चित मास दिन आदि में ये संस्कार करने चाहिए।

श्रवण, हस्त, पुनर्वसु, मूला, पुष्य और मृगशीर्ष नक्षत्र तथा रविवार, सोमवार एवं गुरुवार पुंसवनादि कर्म के लिए शुभ कहे गए हैं।

गर्भस्थापन के पाँचवे मास में शुभ तिथि, वार, नक्षत्र आदि तथा पति के चंद्रबल आदि को देखकर गर्भाधान संस्कार किया जाता है। मुनिजनों से आज्ञा प्राप्त गृहस्थ गुरु (विधिकारक) या क्षुल्लक गृहस्थों की संस्कार-विधि करवाने के योग्य माना जाता है। गृहस्थों के संस्कार करवाने वाला वह गृहस्थ गुरु कैसा हो ? इस सम्बन्ध में कहा है कि जिसने स्नान करके धुले हुए निर्मल वस्त्र, जिनउपवीत और उत्तरासंग को धारण किया हो, जिसका जूड़ा कसा हुआ हो, जो गले में पंचकक्ष या पंचरुद्राक्ष धारण किये हुए हो और ललाट पर चन्दन का तिलक लगाया हुआ हो, साथ ही जिसने अंगुली में सावित्रीक मंत्र से अंकित स्वर्णमुद्रिका पहन रखी हो तथा हाथ में दर्भयुक्त कौसुंभ-सूत्र का पंचग्रन्थि सहित

कंकण बांधा हुआ हो, रात्रि में जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तथा उस दिन उपवास, आयम्बिल, निवी (निर्विकृति) एकासना आदि का प्रत्याख्यान किया हो— ऐसा गृहस्थ गुरु ही संस्कार विधि करवाने के योग्य होता है।

जैसा कहा गया है -

“जो शान्त हो, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो, मौनी हो, सम्यक्त्व का पूर्ण पालन करता हो, मुनिजनों की आज्ञा के अनुरूप कार्य करने वाला हो, दुराग्रह से (परवाद से) रहित हो, क्रोध, लोभ व माया को जीता हुआ हो, कुलीन हो, सर्वशास्त्रों का ज्ञाता हो, सबके अनुकूल व्यवहार करने वाला हो, कृपालु हो, राजा और रंक को समदृष्टि से देखने वाला हो, अपने आचार-मार्ग को प्राणनाश का संकट आने पर भी नहीं त्यागे, अखण्डित शरीरवाला हो, सरल हो, सदैव सदगुरु की उपासना करने वाला हो, विनीत हो, बुद्धिमान हो, क्षमाशील कृतज्ञ हो, अन्तर और बाह्य—दोनों ही रूप से पवित्र हो - ऐसा गृहस्थ गुरु गृहस्थों के संस्कार करवाने के योग्य होता है।

इस प्रकार का गृहस्थ गुरु गर्भाधान कर्म को करने से पहले गर्भवती स्त्री के पति की अनुमति प्राप्त करे। तत्पश्चात् उस गर्भवती स्त्री का वह पति नख से शिखा पर्यन्त पूर्ण स्नान कर शुद्ध वस्त्रों को धारण कर निज वर्ण के अनुसार उपवीत (त्रिसूत्र), उत्तरीय एवं उत्तरासन धारण करके सर्वप्रथम अर्हत् परमात्मा की शास्त्रानुसार बृहत्स्नात्र—विधि करे। उस स्नात्र के जल को पवित्र पात्र (वर्तन) में स्थापित करे, अर्थात् रखे। उसके बाद शास्त्र की विधि के अनुसार जिन प्रतिमा की गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य, गीत वाजिंत्र आदि से पूजा करे। पूजा के अन्त में गृहस्थ गुरु सधवा स्त्रियों के हाथों से गर्भवती स्त्री को स्नात्र जल से सिंचित कराए। उसके बाद सभी जलाशयों के पानी को एकत्रित कर उसमें सहस्रमूलचूर्ण को शान्तिदेवी के मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करके डालें या अन्य युक्त स्तोत्र द्वारा अभिमंत्रित करें। शान्तिदेवी का मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ नमो निश्चितवचसे भगवते पूजामर्हते जयवते यशस्विने,
यतिस्वामिने सकलमहासंपत्तिसमन्विताय त्रैलोक्यपूजिताय सर्वासुरामरस्वामि
संपूजिताय अजिताय भुवनजनपालनोद्यताय सर्वदुरितौघनाशनकराय सर्वा-
शिवप्रशमनाय दुष्टग्रहभूति पिशाचशाकिनीप्रमथनाय, यस्येतिनाममंत्रस्म-
रणतुष्टा भगवती तत्पदभक्ता विजयादेवी। ॐ ह्रीं नमस्ते भगवति विजये,

जय जय परे परापरे जये अजिते अपराजिते जयावहे सर्वसंघस्य भद्रकल्याणमंगलप्रदे, साधूनां शिवतुष्टिपुष्टिप्रदे, जय जय भव्यानां कृतसिद्धे सत्त्वानां निर्वृत्तिनिर्वाणजननि अभयप्रदे स्वस्तिप्रदे भविकानां जन्तूनां, शुभप्रदानाय नित्योद्यते सम्यग्दृष्टिनां, धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदे जिनशासनरतानां शान्तिप्रणतानां जनानां श्रीसंपत्कीर्तियशोवर्द्धिनि, सलिलात् रक्ष रक्ष, अनिलात् रक्ष रक्ष, विषधरेभ्यो रक्ष रक्ष, राक्षसेभ्यो रक्ष रक्ष, रिपुगणेभ्यो रक्ष रक्ष, मारीभ्यो रक्ष रक्ष, चौरेभ्यो रक्ष रक्ष, ईतिभ्यो रक्ष रक्ष श्वापदेभ्यो रक्ष रक्ष, शिवं कुरु कुरु, शान्तिं कुरु कुरु, तुष्टिं कुरु कुरु, पुष्टिं कुरु कुरु, स्वस्तिं कुरु कुरु, भगवती, गुणवती, जनानां शिव शान्तिपुष्टि पुष्टि स्वस्ति कुरु कुरु। ॐ नमो—नमो हूं ह्रः यः क्षः ह्रीं फट् फट् स्वाहा। अथवा ॐ नमो भगवतेऽर्हते शान्ति स्वामिने, सकलातिशेषकमहासंपत्समन्विताय, त्रैलोक्यपूजिताय, नमः शान्तिदेवाय, सर्वांमरसमूहस्वा— मिसंपूजिताय, भुवनपालनोद्यताय, सर्वदुरितविनाशनाय, सर्वाशिवप्रशमनाय, सर्वदुष्टग्रहभू— तपिशाचमारिडाकिनीप्रमथनाय, नमो भगवति विजये, अजिते, अपराजिते, जयन्ति जयावहे सर्वसंघस्य भद्रकल्याणमंगलप्रदे साधूनां शिवशान्ति— तुष्टिपुष्टिस्वस्तिप्रदे भव्यानां सिद्धिवृद्धिनिर्वृत्तिनिर्वाणजननि, सत्त्वानामभय— प्रदाननिरते, भक्तानां शुभावहे, सम्यग्दृष्टिनां धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानोद्यते, जिनशासननिरतानां श्रीसंपत्कीर्तियशोवर्द्धिनि, रोगजलज्वलनविषविषधर— दुष्टज्वरव्यन्तरराक्षसरिपुमारिचौरैतिश्वापदोपसर्गादिभयेभ्यो रक्ष रक्ष, शिवं कुरु कुरु शान्तिं कुरु कुरु तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं कुरु कुरु स्वस्तिं कुरु कुरु भगवति श्री शान्तिपुष्टिपुष्टिस्वस्ति कुरु कुरु ॐ नमो नमः हूं ह्रः यः क्षः ह्रीं फट् स्वाहा।”

इस मंत्र द्वारा या पूर्व में कहे गए मंत्र द्वारा वह गृहस्थ गुरु सहस्रमूलिका से युक्त सर्व जलाशयों के जल को सात बार अभिमंत्रित कर पुत्रवती सधवा स्त्री के हाथों से मंगल गीत गाते हुए गर्भवती स्त्री को स्नान करवाए। उसके बाद गर्भवती स्त्री को सुगंधयुक्त लेप लगवाकर, अनुकूल (उपयुक्त) वस्त्र पहनवाकर, उसकी आर्थिक स्थिति के अनुरूप आभूषणों को धारण करवाकर पति के साथ वस्त्रांचल ग्रन्थि—बन्धन करवाते हुए पति के वाम पार्श्व में शुभ आसन पर स्वस्तिक करके बैठाए। ग्रन्थि योजनमंत्र इस प्रकार है :-

“ॐ अर्ह, स्वस्ति संसारसंबन्धबद्धयोः पतिभार्ययोः। युवयोरवियोगोऽस्तु भववासान्तमाशिषा।”

विवाह को छोड़कर सर्वत्र इसी मंत्र के द्वारा दंपत्ति का ग्रन्थि-बंधन कराना चाहिए। उसके बाद गृहस्थ गुरु उसके सामने शुभपादपीठ पर पद्मासन में बैठकर मणि, स्वर्ण, चांदी एवं ताम्रपत्र के पात्रों में परमात्मा के स्नात्र जल सहित तीर्थोदक को रखकर आर्यवेदमंत्र का उच्चारण करते हुए कुशाग्र से या पत्ते से गर्भिणी को जल से सिंचित करें। वह आर्यवेदमंत्र इस प्रकार है :-

“ॐ अहं जीवोऽसि जीवतत्त्वमसि, प्राण्यसि, प्राणोऽसि, जन्म्यसि, जन्मवानसि, संसार्यसि, संसरन्नसि, कर्मवानसि, कर्मबद्धोऽसि, भवभ्रान्तोऽसि, भव संबिभ्रमिषुरसि, पूर्णांगोऽसि, पूर्णपिण्डोऽसि, जातोपांगोऽसि, जायमानोपांगोऽसि, स्थिरो भव, नन्दिमान् भव, वृद्धिमान् भव, पुष्टिमान् भव, ध्यानजिनो भव, ध्यातसम्यक्त्वो भव, तत्कुर्या न येन पुनर्जन्मजरामरणसंकुलं संसारवासं गर्भवासं प्राप्नोषि, अहं ॐ”

इस मंत्र में दाएँ हाथ में धारण किए गये तीर्थ जल को लेकर सात बार गर्भिणी के सिर एवं शरीर पर अभिसिंचित करे। उसके बाद पंच परमेष्ठी मंत्र का पाठ करते हुए दंपत्ति को आसन से उठाकर फिर उन्हें जिनप्रतिमा के समीप ले जाकर शक्रस्तव (नमुत्थुणं) से जिनवन्दन कराए। यथाशक्ति फल, वस्त्र, मुद्रा, मणि, स्वर्ण आदि जिनप्रतिमा के सन्मुख चढ़ाए। उसके बाद गर्भवती स्त्री विधिकारक गुरु को स्वसंपत्ति में से वस्त्र, आभरण, मुद्रा, स्वर्णादि का दान दे। उसके बाद गुरु पतिसहित गर्भवती स्त्री को इस प्रकार आशीर्वाद दे :-

“ज्ञानत्रयं गर्भगतोऽपि विन्दन् संसारपारैक निबद्धचित्तः ।

गर्भस्य पुष्टिं युवयोः च तुष्टिं युगादिदेवः प्रकरोतुनित्यम् ॥”

उसके बाद उन्हें आसन से उठाकर ग्रन्थि का विमोचन करे। ग्रन्थि विमोचन का मंत्र इस प्रकार है :-

“ॐ अहं ग्रन्थौ वियोज्यमानेऽस्मिन् स्नेहग्रन्थिः स्थिरोऽस्तु वा ।

शिथिलोऽस्तु भवग्रन्थिः कर्मग्रन्थिदृढी कृतः ॥”

इस मंत्र के द्वारा ग्रन्थिमोचन कर उपाश्रय में ले जाकर दंपत्ति (के द्वारा) से सुसाधु गुरु को वन्दन कराएं और साधुओं को निर्दोष भोजन, वस्त्र, पात्र आदि का दान दिलाएं। यह गर्भाधान संस्कार की विधि है। उसके बाद अपने कुलाचार की विधि से कुलदेवता, गृहदेवता, नगरदेवतादि का पूजन करें। यहाँ जो भी मंत्र कहे गए हैं, वे जैन वेदमंत्र हैं, उन्हीं का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

आर्यवेद और जैन ब्राह्मण उदभव कथा :-

आदिनाथ के पुत्र प्रथमचक्री भरत¹ ने अवधिज्ञानी ऋषभदेव के रहस्यमय उपदेश से सम्यक् श्रुतज्ञान प्राप्त किया। फिर उन्होंने सांसारिक व्यवहार रूप संस्कारों की स्थिति के लिए अर्हत् का निर्देश पाकर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय का त्रिकरण से पालन करने वाले तथा त्रिरत्नों का प्रतीक त्रिसूत्र वक्षःस्थल पर धारण करने वाले ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि की। तत्पश्चात् उन्होंने वैक्रिय लब्धि द्वारा चतुर्मुख होकर चार वेदों का उच्चारण किया। वह इस प्रकार है :-

1. संस्कार-दर्शन 2. संस्थान-परामर्श 3. तत्त्वावबोध और 4. विद्या-प्रबोध

सर्व नयों से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ये चारों वेद माहणों (जैन ब्राह्मणों) को पढ़ाए गए। वे ब्राह्मण सात तीर्थकरों के तीर्थकाल तक सम्यक्त्व को धारण करते हुए अर्हतो के द्वारा प्रतिपादित धर्म देशना और व्यवहार का उपदेश देते थे। उसके पश्चात् तीर्थ का व्यवच्छेद होने पर उन ब्राह्मणों ने लोभ के वशीभूत होकर साधुओं की, अर्थात् श्रमणों की निंदा करने वाले एवं हिंसा की प्ररूपणा करने वाले ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नामक वेदों की कल्पना अपनी मिथ्यादृष्टि के आधार पर की। उसके पश्चात् श्रमणों ने भी श्रमण-व्यवहार से पराङ्मुख इन वेदों को छोड़कर जिन-प्रणीत आगम की प्रमाणता को स्थापित किया। उनमें से भी जिन ब्राह्मणों ने सम्यक्त्व का त्याग नहीं किया था, ऐसे माहणों के मुखों में आज भी भरत-प्रणीत वेद आंशिक रूप से विभिन्न कर्मकांडों एवं व्यवहारों में प्रचलित रहे हैं, ऐसा सुना जाता है और वही यहाँ बताया गया है। आगम में भी कहा गया है -

शुभ ध्यान और व्यवहार के लिए माहणों के पठनार्थ भरतचक्रवर्ती ने आर्य वेदों को विश्रुत किया था। जिन तीर्थ के व्यवच्छिन्न हो जाने पर मिथ्यामति ब्राह्मणों (माहणों) द्वारा स्थापित किये गये इन वेदों को असंयति जनों ने अपनी पूजा के लिए प्रसिद्ध किया।

1. आचारदिनकर की मूल प्रति में भरत को अवधिज्ञानी बताया है, यह बात कुछ युक्ति संगत नहीं लगती, क्योंकि आगमों में ऐसा कही उल्लेख नहीं मिलता कि चक्रवर्ती अवधिज्ञानी होते ही हैं। इसलिए यह विशेषण ऋषभदेव के लिये ही होगा, ऐसा हम मान सकते हैं और वो युक्तिसंगत भी है, क्योंकि तीर्थकर परमात्मा जन्म से तीन ज्ञान के धनी होते हैं और ऋषभदेव ने ही लोगों को सामाजिक व्यवहार से अवगत कराया था, ऐसे उल्लेख भी अनेक ग्रंथों में मिलते हैं।

आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार पंचामृत, सर्वतीर्थों का जल, स्नात्र सामग्री (स्नान की वस्तुएँ), सहस्रमूल, दर्भ, कौसुम्भसूत्र, द्रव्य (मुद्रा), फल, नैवेद्य, उपयुक्त दो वस्त्र (वस्त्र का जोड़ा), शुभ आसन और स्वर्ण, ताम्र आदि के पात्र, वाद्य, सधवा स्त्रियाँ तथा पति का सामीप्य - गर्भाधान के संस्कार में इन वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए।

इस प्रकार वर्धमानसूरि द्वारा प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का गर्भाधान संस्कार नामक पहला उदय समाप्त होता है।

-----00-----

// दूसरा उदय // पुंसवन-संस्कार की विधि

गर्भ के आठ मास व्यतीत हो जाने पर, सर्व दोहद पूर्ण हो जाने पर, गर्भस्थ शिशु के सम्पूर्ण अंग-उपांग पूर्णतः विकसित हो जाने पर शरीर में पूर्णा भाव प्रमोदरूप स्तनों में दूध की उत्पत्ति का सूचक पुंसवन कर्म करना चाहिए।

इसके लिए शुभ नक्षत्र एवं दिन इस प्रकार बताए गए हैं :-

मूला, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मृगशीर्ष और श्रवण नक्षत्र तथा मंगल, गुरु एवं रविवार पुंसवन कर्म के लिए उचित माने गये हैं। छठें मास में अथवा आठवें मास में भी यदि उसके स्वामी, अर्थात् पति को अभुक्त पुरुष लग्न हो, तो यह विधि की जानना इष्ट है। इसी प्रकार पापकारक द्वादश मृत्युयोग से रहित बुद्धि और धर्म के स्वामी, देवताओं के गुरु बृहस्पति के चतुर्थ स्थान में होने पर भी मुनिजन, सीमंतकर्म (पुंसवन संस्कार) की अनुमति देते हैं। रिक्ता, दुग्धा, क्रूरा, अहस्पृश्या (तीन दिन का स्पर्श करने वाली) एवं अवमा तिथियाँ तथा षष्ठी, अष्टमी, द्वादशी और अमावस्या - ये तिथियाँ इस पुंसवन-कर्म हेतु वर्जित मानी गयी हैं। गण्डांत, उपहत (क्षत-विक्षत) आदि अशुभ नक्षत्रों का भी त्याग करके पूर्व में कहे गए नक्षत्र और वार में पति के चंद्रबल में पुंसवन-कार्य शुरू करना चाहिए।

इस संस्कार की विधि इस प्रकार है - गृहस्थगुरु पूर्व में, अर्थात् गर्भाधान संस्कार के प्रसंग में बताए गए अनुसार वेश को धारण करे। गर्भवती स्त्री ने पति की उपस्थिति में, या उसकी अनुपस्थिति में गर्भाधान-कर्म के समय जिस वेश को धारण किया था, उसे वैसे ही वेश को धारण कराए तथा वैसी ही कबरी-बन्ध (केश-सज्जा) किए हुए उस स्त्री को रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जिस समय गगन में तारे हों, उस समय श्रृंगारित, सधवा स्त्रियों के द्वारा मंगलगान गाते हुए तेलमर्दन और उबटन लगाकर जल से अभिषिक्त करे, अर्थात् स्नान कराए।

उसके बाद प्रभात होने पर भव्य वस्त्र, गन्धमाला, आभूषणों से भूषित उस गर्भिणी की उपस्थिति में उसका पति, देवर अथवा उस कुल का कोई व्यक्ति, या विधिकारक गुरु स्वयं गृह में स्थित अर्हत् परमात्मा की प्रतिमा को पंचामृत से बृहत्स्नात्र विधिपूर्वक स्नान कराए।

उसके पश्चात् जिन-प्रतिमा को सहस्त्रमूली स्नान कराए। फिर उसे समस्त तीर्थ जल से स्नान कराये। तत्पश्चात् सम्पूर्ण स्नात्र जल को स्वर्ण, चांदी, ताम्र आदि के पात्र में संचित करें। शुभ आसन पर सुखपूर्वक बैठी हुई तथा पति, देवर आदि जिसके साक्षी हैं, ऐसी कुलीना गर्भिणी को गुरु दाएँ हाथ में कुश लेकर कुशाग्र पर स्थित बूंदों से स्नात्र-जल के द्वारा (गर्भिणी स्त्री के) सिर, स्तन एवं उदर को अभिसिंचित करते हुए यह वेदमंत्र बोले :-

“ॐ अहं नमस्तीर्थकरनामकर्मप्रतिबन्धसंप्राप्तसुरासुरेन्द्रपूजायाहते आत्मने त्वमात्मायुः कर्मबन्धप्राप्यं तं मनुष्य जन्मगर्भावासमवाप्तोऽसि, तद्भवजन्मजरामरणगर्भवासविच्छित्तये प्राप्ताहर्द्धर्मोऽहर्द्धभक्तः सम्यक्त्व-निश्चलः कुलभूषणः सुखेन तव जन्मास्तु। भवतु तव त्वन्मातापित्रोः कुलस्याभ्युदयः, ततः शान्तिः तुष्टिर्वृद्धिः ऋद्धिः कान्तिः सनातनी अहं ॐ।।”

इस वेदमंत्र को आठ बार बोलते हुए गर्भिणी को अभिसिंचित करे। उसके बाद गर्भवती स्त्री आसन से उठकर सर्वजाति के आठफल तथा सोने एवं चांदी की आठ मुद्राएँ प्रणाम करके जिन प्रतिमा के सम्मुख चढ़ाए। उसके बाद विधि कराने वाले गृहस्थ गुरु के पैरों में नमस्कार करके दो वस्त्र (वस्त्रो का जोड़ा) सोने, चांदी की आठ मुद्राएँ, आठ सुपारी पान सहित गृहस्थ गुरु को दे। उसके पश्चात् उपाश्रय में जाकर साधुओं को वन्दन करे। यथाशक्ति शुद्ध अन्न, वस्त्र, पात्र का दान दे। फिर अपने से आयुष्य में बड़े लोगों को नमस्कार करे। इस प्रकार यह पुंसवन-संस्कार विधि बताई गई है।

इसके बाद अपने कुलाचार के अनुसार कुल देवता आदि की पूजा करे। आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार इस संस्कार में निम्न वस्तुएँ आवश्यक है - पंचामृत, स्नात्र की वस्तुएँ (स्नान के साधन), स्त्री के लिए नए वस्त्र, इसके अतिरिक्त नए दो वस्त्र, सोने एवं चांदी की आठ-आठ मुद्राएँ (कुल 16 मुद्राएँ), उत्तम जाति के सोलह फल, कुश, ताम्बूल, गंध, पुष्प, नैवेद्य तथा सधवा स्त्रियों द्वारा मंगलगीत का गान - ये सभी बातें पुंसवन-संस्कार के कार्य को उत्तम रीति से संपन्न करने के लिए परमावश्यक हैं।

इस प्रकार वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का पुंसवन-संस्कार नामक यह द्वितीय उदय समाप्त होता है।

// तीसरा उदय // जन्म-संस्कार-विधि

गर्भकाल के अपेक्षित मास-दिन आदि की कालावधि पूर्ण होने पर गुरु, ज्योतिषी सहित एकान्त एवं शोरगुलरहित तथा जहाँ स्त्रियों बालकों आदि का आवागमन न हो एवं सूतिका-गृह के अत्यन्त समीप हो, ऐसे स्थान पर घटिका पात्र रखकर सावधानीपूर्वक पंचपरमेष्ठी के जाप में निरत रहे तथा तिथि, वार, नक्षत्र आदि का पहले से विचार नहीं करे।

जीव का जन्म तो कर्मानुसार कालावधि पूर्ण होने पर ही होता है। जन्म, मृत्यु, धन, दौस्थ्यं (रूग्णता) अपने-अपने समय पर प्रवर्तित होते हैं, अतः इस विषय में चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है ? आगम में भी वर्द्धमानस्वामी ने कहा है कि "जन्मकाल एवं मृत्युकाल अपने समय पर होते हैं। उनके होने पर वीतराग को कोई आश्चर्य नहीं होता है।"

बालक के होने पर गुरु समीप में स्थित ज्योतिषी को जन्म-समय का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए निर्देश दे। वह ज्योतिषी भी सही जन्मकाल को हाथ पर गिनकर निर्धारित करे। उसके बाद बालक के पिता, चाचा, दादा जब तक नाल अखण्ड रहे (उस बीच में) गृहस्थगुरु एवं ज्योतिषी को बहुत से वस्त्र, आभूषण एवं वित्त आदि दें। नाल छिन्न होने पर सूतक प्रारम्भ हो जाता है। गृहस्थगुरु बालक, उसके पिता, दादा आदि परिवारजनों को निम्न मंत्र से आशीर्वाद दे -

"ॐ अहं कुलं वो वर्द्धतां सन्तु शतशः पुत्रपौत्रप्रपौत्राः
अक्षीणमस्त्वायुर्द्धनं यशः सुखं च, अहं ॐ ॥"

यह वेद का आशीर्वाद है। जैसा कि कहा गया है - "मेरु पर्वत पर देवों एवं असुरों के स्वामी इन्द्र अपने समूह सहित कुंभ के अमृतजल से जिनको स्नान कराते हैं, ऐसे आदिदेव (तुम्हारे) कुल का वर्धन करें।"

इसी प्रकार ज्योतिषी भी आशीर्वाद दे -

"सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि ग्रहों में श्रेष्ठ ग्रह तुम्हारी रक्षा करें। अश्विनी आदि नक्षत्र और उसके अतिरिक्त मेष आदि राशियाँ शिशु का कल्याण करें और परिवारजनों की, अर्थात् परिवार के सदस्यों की वृद्धि करें।"

उसके बाद ज्योतिषी जन्म-लग्न बताकर अपने घर चला जाए।

जच्चा अर्थात् जिसने हाल ही में प्रसव किया है, का सूतिकर्म करने के लिए गुरु उस प्रसूता के कुल की वृद्धाओं एवं दाइओं को निर्देश दे तथा अन्य गृह में स्थित गुरु बालक के स्नानार्थ जल अभिमंत्रित करके दे। जल को अभिमंत्रित करने का मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ अर्हं नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः” “क्षीरोदनीरैः किल जन्मकाले यैर्मरुश्रुंगे स्नपितो जिनेन्द्रः, स्नानोदकं तस्य भवत्विदं च शिशोर्महामंगल पुण्य वृद्धयै।”

गुरु इस मंत्र द्वारा सात बार जल को अभिमंत्रित करे तथा उस जल से कुलवृद्धाएँ बालक को स्नान कराए। नाल का छेदन सब अपने कुलाचार के अनुरूप करें। उसके बाद गुरु अपने स्थान पर रहकर चन्दन, रक्तचन्दन, बेल नामक वृक्ष की लकड़ी आदि जलाकर भस्म बनाए। उस भस्म में श्वेत सरसों और नमक को मिलाकर एक पोटली में बांध दे। रक्षा के लिए मूलमंत्र इस प्रकार है -

“ॐ ह्रीं श्रीं अंबे जगदंबे शुभे शुभंकरे अमुं बालं भूतेभ्यो रक्ष रक्ष, ग्रहेभ्यो रक्ष रक्ष, पिशाचेभ्यो रक्ष रक्ष, वेतालेभ्यो रक्ष रक्ष, शाकिनीभ्यो रक्ष रक्ष, गगनदेवीभ्यो रक्ष रक्ष, दुष्टेभ्यो रक्ष रक्ष, शत्रुभ्यो रक्ष रक्ष, कार्मणेभ्यो रक्ष रक्ष, दृष्टिदोषेभ्यो रक्ष रक्ष, जयं कुरु कुरु, विजयं कुरु कुरु, तुष्टिं कुरु कुरु, पुष्टिं कुरु कुरु, कुलवृद्धिं कुरु कुरु ॐ ह्रीं ॐ भगवति श्री अंबिके नमः।”

इस मंत्र से सात बार अभिमंत्रित करके लोहखण्ड तथा वरुणमूल, रक्तचन्दन, कौड़ी आदि से युक्त रक्षा-पोटली को काले धागे से बांधकर कुल-वृद्धाओ से शिशु के हाथ में बधवाएँ।

विचक्षण व्यक्ति जन्म संस्कार हेतु प्रसूतिगृह के समीप में एकांत-गृह तथा घटीपत्र, चन्दन, रक्तचन्दन, सफेद सरसों, नमक, रेशमी वस्त्र, काला धागा, कपर्दिका (कोड़ी), मंगलगीत, रक्षा-पोटली के लिए लोहा और वस्त्र, दक्षिणा के लिए धन, स्वस्तिक, कुल वृद्धाएँ और सर्व जलाशयों का जल आदि वस्तुएँ लेकर रखें। यह जन्म-संस्कार विधि कही गई है।

यदि कदाचित् शिशु का जन्म आश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल नक्षत्र में गण्डान्त या भद्रा नक्षत्र में हो, तो वह उसके पिता तथा उसके कुल के दुःख, दारिद्र्य, शोक एवं मरण का कारण बनता है, इसलिए पिता व कुल के ज्येष्ठ शान्तिक विधान किए बिना शिशु का मुख न देखें। उसके लिए

करने योग्य विधान का वर्णन क्रमशः आगे इसी ग्रन्थ के शान्तिककर्म नामक तैंतीसवें उदय में है।

इस प्रकार वर्द्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का जन्म-संस्कार नामक यह तृतीय उदय समाप्त होता है।

-----00-----

// चौथा उदय // सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार-विधि

इस प्रकार जन्म के पश्चात् दो दिन व्यतीत हो जाने पर तीसरे दिन गुरु समीप के गृह में अर्हत्-अर्चनापूर्वक जिन-प्रतिमा के आगे स्वर्ण, ताम्र या रक्तचंदन की सूर्य की प्रतिमा को स्थापित करे तथा उसकी पूजा आगे कही गई प्रतिष्ठा, शान्तिककर्म, पौष्टिककर्म आदि की विधि के अनुसार करे।

उसके पश्चात् शिशु-माता स्नान करके, सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणों को धारण करे तथा दोनों हाथों में शिशु को लेकर सूर्य के सन्मुख ले जाए। विधिकारक गुरु सूर्य वेदमंत्र का उच्चारण करके माता और पुत्र को सूर्य का दर्शन कराए। सूर्य वेदमंत्र इस प्रकार है -

“ॐ अर्हं सूर्योऽसि, दिनकरोऽसि, सहस्रकिरणोऽसि, विभावसुरसि, तमोऽपहोऽसि, प्रियंकरोऽसि, शिवंकरोऽसि, जगच्चक्षुरसि, सुरवेष्टितोऽसि, मुनिवेष्टितोऽसि, विततविमानोऽसि, तेजोमयोऽसि, अरुणसारथिरसि, मार्तण्डोऽसि, द्वादशात्मासि, वक्र-बान्धवोऽसि, नमस्ते भगवन् प्रसीदास्य कुलस्य तुष्टिं पुष्टिं प्रमोदं कुरु-कुरु, सन्निहितो भव अर्हं ॐ ॥”

गुरु के मंत्र-पाठ करने पर एवं सूर्य को देखने के बाद माता पुत्र सहित, गुरु को नमस्कार करे। गुरु पुत्र सहित माता को इस प्रकार से आशीर्वाद दे - “जो सभी देवों एवं असुरों द्वारा वंदनीय है, समस्त धर्म कार्यों को कराने वाले हैं, त्रिलोक के नेत्र स्वरूप हैं, ऐसे परमात्मा पुत्र सहित तुम्हें मंगल प्रदान करने वाले हों।”

उसके बाद विधिकारक गुरु अपने स्थान पर आकर स्थापित जिन-प्रतिमा एवं सूर्य-प्रतिमा को विसर्जित करें। माता और पुत्र को सूतक होने के कारण उन्हें वहाँ न ले जाए। उसी दिन संध्याकाल के समय दूसरे कक्ष में गृहस्थ गुरु जिनपूजापूर्वक जिनप्रतिमा के आगे स्फटिक, चांदी या चन्दन की चंद्र-प्रतिमा स्थापित करे। उस चन्द्रमा की प्रतिमा की पूजा भी शान्तिककर्म आदि पूर्वोक्त विधि से करे।

उसके पश्चात् सूर्य-दर्शन की रीति से चंद्रोदय होने पर चन्द्रमा के सम्मुख माता एवं पुत्र को ले जाकर विधिकारक गुरु वेदमंत्र का उच्चारण करते हुए माता एवं पुत्र दोनों को चंद्रमा का दर्शन कराए। वह वेद मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ अहं चन्द्रोऽसि, निशाकरोऽसि, सुधाकरोऽसि, चन्द्रमाऽसि, ग्रहपतिरसि, नक्षत्रपतिरसि, कौमुदीपतिरसि, निशापतिरसि, मदनमित्रमसि, जगज्जीवनमसि, जैवातृकोऽसि, क्षीरसागरोदभवोऽसि, श्वेतवाहनोऽसि, राजाऽसि, राजराजोऽसि, औषधीगर्भोऽसि, वंद्योऽसि, पूज्योऽसि, नमस्ते भगवन् ! अस्य कुलस्य ऋद्धिं कुरु, वृद्धिं कुरु, तुष्टिं कुरु, पुष्टिं कुरु, जयं कुरु, विजयं कुरु, भद्रं कुरु, प्रमोदं कुरु, श्री शशांकाय नमः अहं ॐ ॥”

ऐसा बोलकर गुरु शिशुसहित माता को चन्द्र का दर्शन करवाकर बैठें और वह माता पुत्र सहित, गुरु को नमस्कार करें। गुरु भी इस प्रकार से आशीर्वाद दे - “समस्त औषधियों से मिश्रित किरण-समूह वाला, समस्त आपदाओं का नाश करने में प्रवीण तथा निरन्तर प्रसन्न रहनेवाला चन्द्रमा तुम्हारे समस्त वंश की वृद्धि करे।”

सूतक में दक्षिणा नहीं दी जाती है। उसके बाद गुरु जिन-प्रतिमा और चन्द्रप्रतिमा का विसर्जन करे।

यदि उस रात्रि में चतुर्दशी, अमावस्या होने के कारण अथवा आकाश बादलों से ढका होने के कारण चन्द्र-दर्शन न हो पाए, तो भी पूजन उसी संध्या में करे, किन्तु चन्द्र दर्शन किसी अन्य रात्रि को हो सकता है। सूर्य एवं चन्द्रदर्शन-विधि यहाँ पूर्ण होती है।

सूर्य-चन्द्र की मूर्ति उसकी पूजा-सामग्री तथा सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन इस संस्कार के लिए परम आवश्यक है।

इस प्रकार वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहधर्म का “सूर्य-चन्द्र दर्शन-संस्कार” नामक यह चतुर्थ संस्कार समाप्त होता है।

// पाँचवाँ उदय //

क्षीराशन—संस्कार की विधि

जन्म के पश्चात् तीन दिन होने पर चन्द्र—सूर्य दर्शन के दिन ही शिशु को दूध का आहार कराते हैं। उसके लिए पूर्व में बताए गए वेश धारण करने वाला गृहस्थ गुरु सर्वप्रथम अमृतमंत्र द्वारा 108 बार अभिमंत्रित तीर्थ जल से शिशु की माता के दोनों स्तनों को सिंचित करे, तत्पश्चात् माता गोद (अंक) में स्थित शिशु की नासिका को स्तन से लगाकर स्तनपान कराए। (अमृतमंत्र अन्त में दिया गया है।)

स्तनपान करते हुए शिशु को गृहस्थ गुरु निम्न वेदमंत्र से आशीर्वाद दे —

“ॐ अहं जीवोऽसि आत्मासि, पुरुषोऽसि, शब्दज्ञोऽसि, रूपज्ञोऽसि, रसज्ञोऽसि, गन्धज्ञोऽसि, स्पर्शज्ञोऽसि, सदाहारोऽसि, कृताहारोऽसि, अभ्यस्ताहारोऽसि, कावलिकाहारोऽसि, लोमाहारोऽसि, औदारिकशरीरोऽसि, अनेनाहारेण तवांगवर्धतां, तेजोवर्द्धतां, पाटवं वर्द्धतां, सौष्टवं वर्द्धतां, पूर्णायुर्भव, अहं ॐ ॥” इस मंत्र से तीन बार आशीर्वाद दे। अमृतमंत्र इस प्रकार है —

“ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय—स्रावय स्वाहा ॥”

इस प्रकार वर्धमानसूरि द्वारा प्रतिपादित आचार—दिनकर में गृहिधर्म का क्षीराशन—संस्कार नामक यह पंचम उदय समाप्त होता है।

// छटा उदय // षष्ठी-संस्कार-विधि

प्रसव के छठे दिन गुरु प्रसूतिगृह में आकर षष्ठी-पूजन की विधि प्रारंभ करे। वहाँ सूतक का कोई मतलब नहीं है, जैसा कि श्लोक है -

“अपने कुल में, तीर्थ के मध्य में एवं आवश्यक कार्य होने पर और षष्ठी पूजन में सूतक की गणना (मान्य) नहीं होती है।”

इस संस्कार-विधि के अनुसार सूतिकागृह के भित्ति-भाग एवं भूमि-भाग पर सधवा स्त्रियाँ अपने हाथों से गोबर का लेप करे, अर्थात् लीपें। उसके पश्चात् शुक्रवार, बृहस्पतिवार आदि शुभ वार देखकर चारों दिशाओं के कोने वाले भाग एवं भित्ति-भाग को खड़ियाँ मिट्टी (सफेद मिट्टी) आदि से सफेद करके उस भूमि-भाग को (धरातल) चारों तरफ से सुशोभित करें। उसके बाद भित्ति के उस सफेद भाग पर सधवा स्त्रियाँ हाथों से कुंकुम, हिंगुल आदि लाल वर्णों से आठ खड़ी हुई माताओं (देवियों) का, आठ बैठी हुई माताओं का एवं आठ सोई हुई माताओं का आलेखन करें। कहीं-कहीं कुल-परम्परा एवं गुरु-परम्परा के अनुसार छः-छः माताओं के आलेखन का भी विधान है।

उसके बाद सधवा स्त्रियों द्वारा मंगलगीत गाए जाने पर गुरु चतुष्क (चौकोर) शुभ आसन पर बैठकर उक्त क्रम से माताओं की मंत्रपूर्वक पूजा करे। यहाँ नलिखवओ (?) इस प्रकार उल्लेख मिलता है, जिसका लेखक ने स्वयं भी स्पष्टीकरण नहीं किया है। पर शायद पूर्व के सन्दर्भ से ऐसा लगता है कि, यह आह्वान-मंत्र ऐसा लिखा होगा, क्योंकि आगे आह्वान-मंत्र भी दिया गया है -

“ॐ ह्रीं नमो भगवति ब्रह्माणि वीणापुस्तकपद्माक्षसूत्रकरे हंसवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ स्वाहा।।”

इस मंत्र का तीन बार पाठ करके पुष्प से आह्वान करे। पश्चात् -

“ॐ ह्रीं नमो भगवति ब्रह्माणि वीणापुस्तकपद्माक्षसूत्रकरे हंसवाहने श्वेतवर्णे मम सन्निहिता भव-भव स्वाहा।।”

इस मंत्र से तीन बार संनिधान करे। पुनः इसी मंत्र का पाठ कर तीन बार तिष्ठ-तिष्ठ ऐसा कहकर उनकी स्थापना करे।

उसके बाद गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य प्रदान करते हुए मंत्र-पाठ पूर्वक-

“गन्धं गृण्ह-गृण्ह, पुष्पं गृण्ह-गृण्ह, धूपं गृण्ह-गृण्ह, दीपं गृण्ह-गृण्ह, अक्षतान् गृण्ह-गृण्ह, नैवेद्यं गृण्ह-गृण्ह”

एक-एक बार यह मंत्र बोलकर इन वस्तुओं द्वारा क्रमशः भगवती देवी की पूजा करे। इसी विधि से दूसरी सात माताओं की भी पूजा करे। दूसरे मंत्र इस प्रकार हैं- (अर्थात् शेष सात माताओं की पूजा निम्न मंत्र से करे।)

“ॐ ह्रीं नमो भगवति महेश्वरि शूलपिनाककपालखट्वांगकरे चन्द्रार्द्धललाटे गजचर्मावृते शेषाहिबद्धकांचीकलापे त्रिनयने वृषभवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ - शेषं पूर्ववत् ।”

“ॐ ह्रीं नमो भगवति कौमारि षण्मुखि शूलशक्तिधरे वरदाभयकरे मयूरवाहने गौरवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ - शेषं पूर्ववत् ।”

“ॐ ह्रीं नमो भगवति वैष्णवि शंखचक्रगदाशाड्गर्खड्गकरे गरुडवाहने कृष्णवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ - शेषं पूर्ववत् ।”

“ॐ ह्रीं नमो भगवति वाराहि वराहीमुखि चक्रखंगहस्ते शेषवाहने श्यामवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ - शेषं पूर्ववत् ।”

“ॐ ह्रीं नमो भगवति इन्द्राणि सहस्रनयने वज्रहस्ते सर्वाभरणभूषिते गजवाहने सुरांगनाकोटिवेष्टिते कांचनवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ - शेषं पूर्ववत् ।”

“ॐ ह्रीं नमो भगवति चामुण्डे शिराजालकरालशरीरे प्रकटितदशने ज्वालाकून्तले रक्तत्रिनेत्रे शूलकपालखड्गप्रेतकेशकरे प्रेतवाहने धूसरवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ - शेषं पूर्ववत् ।”

“ॐ ह्रीं नमो भगवति त्रिपुरे पदमपुस्तकवरदाभयकरे सिंहवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ आगच्छ शेषं पूर्ववत् ।”

यहाँ तक इस विधि से पूजा करे। जिस प्रकार खड़ी हुई (माताओं) की पूजा की है, उसी प्रकार मंत्रार्चन प्रयोग के द्वारा बैठी हुई एवं लेटी हुई माताओं की भी तीन बार पूजा करे। कुछ लोग चामुण्डा, त्रिपुरा (माता) को छोड़कर छः माताओं की ही पूजा करते हैं। इन माताओं की पूजा करके इस प्रकार बोले -

“अपने-अपने शस्त्र, बल, वाहनों से युक्त ब्राह्मणी आदि आठ माताएँ षष्ठी-पूजन से प्रसन्न हो शिशु को कल्याण प्रदान करें, अर्थात् शिशु का कल्याण करें।”

उसके बाद मातृ-स्थापन के अग्र भूमि-भाग पर चन्दन का लेप करके अम्बारूप षष्ठी माता की स्थापना करे। उसकी दही, चन्दन, अक्षत, दूब आदि से पूजा करे। उसके बाद गुरु हाथ में पुष्प लेकर निम्न मंत्रोच्चार करते हुए अन्य माताओं की तरह षष्ठी माता की भी पूजा करे। गुरु हाथ में पुष्प लिए हुए यह मंत्र बोले -

“ॐ ऐं ह्रीं षष्ठि आम्रवनासीने कंदबवनविहारे पुत्रद्वययुते नरवाहने श्यामांगि इह आगच्छ-आगच्छ स्वाहा ॥”

उसके बाद शिशु की माता सहित कुल वृद्धाएँ, सधवा स्त्रियाँ आदि गीत गाते हुए एवं वाद्ययन्त्र बजाते हुए षष्ठी-रात्रि का जागरण करें। उसके बाद प्रातः -

“भगवति पुनरागमनाय स्वाहा”

- इस प्रकार प्रत्येक माता, अर्थात् देवी का नाम लेकर, गृहस्थ गुरु आठ माताओं एवं षष्ठी माता का विसर्जन करे। उसके बाद गृहस्थ गुरु शिशु को पंचपरमेष्ठी मंत्र से अभिमंत्रित शुद्ध किए हुए जल से अभिसिंचित करे और निम्न वेद-मंत्र से आशीर्वाद दे-

“ॐ अहं जीवोऽसि, अनादिरसि, अनादिकर्मभागसि, यत्त्वया पूर्वं प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशैराश्रववृत्त्या कर्मबद्धं तदबन्धोदयोदीरणासत्ताभिः प्रतिभुङ्क्ष्व, माशुभकर्मादयफलभुक्तेरुच्छेकं दध्याः, नचाशुभकर्मफलभुक्त्या विषादमाचरेः तवास्तु संवरवृत्त्या कर्म निर्जरा अहं ॐ ॥”

सूतक में दक्षिणा नहीं दी जाती है।

आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार चन्दन, दही, दूब, अक्षत, कुंकुम, खड़िया एवं हिंगुलादि पूजा के उपकरण, नैवेद्य, सधवा नारियाँ, कुशाघास, भूमिलेपन तथा षष्ठी- जागरण हेतु अपेक्षित अन्य सब वस्तुएँ, इस संस्कार हेतु आवश्यक है।

इस प्रकार वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का षष्ठी-जागरण- संस्कार नामक यह छठा उदय समाप्त होता है।

// सातवाँ उदय // शुचिकर्म—संस्कार

अपने-अपने वर्ण के अनुसार निर्धारित दिनों के व्यतीत होने पर शुचिकर्म—संस्कार करना चाहिए। विप्रों में, अर्थात् ब्राह्मणों में दसवें दिन, क्षत्रियों में बारहवें दिन शुद्धि करने का विधान है। वैश्य सोलह दिनों में और शूद्र एक महीने में शुद्धि, अर्थात् शुचिकर्म करे। कारु (शिल्पियों) को सूतक नहीं होता, अतः उनको शुद्धि भी नहीं करना होती है। इस सम्बन्ध में गृहस्थ गुरु उनके कुल-आचार को ही प्रमाण मानते हैं, इसलिए गृहस्थ गुरु अपने-अपने वर्ण एवं कुल के अनुसार दिन व्यतीत होने पर ही उन्हें शुचिकर्म करवाएँ।

सोलह पुरुष, अर्थात् सोलह पीढ़ियों पूर्व तक के वंशजों का आह्वान करें, क्योंकि सोलह पीढ़ियों तक सूतक का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि कहा गया है -

“बुद्धिमान सोलह पुरखों, अर्थात् सोलह पीढ़ियों पूर्व तक सूतक की गणना करते हैं और लाखों नृ युगों तक सगोत्र में विवाह की अनुज्ञा नहीं देते हैं।”

उसके बाद बुलाए गए सभी सगोत्री जनों को पूर्ण स्नान एवं वस्त्र-प्रक्षालन करने के लिए कहें। स्नान करके शुद्ध वस्त्रों को धारण करके वे सब गृहस्थ गुरु (विधिकारक) को साक्षी बनाकर विविध प्रकार से भगवान की पूजा-अर्चना करें। उसके बाद बालक के माता-पिता पंचगव्य (गाय के दूध, दही, घी, गोमूत्र एवं गोबर) से कुल्ला कर एवं स्नान कर शिशु सहित अपने नाखून काटें। फिर ग्रन्थि से बंधे हुए दंपति जिनप्रतिमा को नमस्कार करें। सधवा स्त्रियाँ मंगल गीत गाते हुए एवं वाजिंत्र बजाते हुए सभी मंदिरों में पूजा का नैवेद्य चढ़ाए। साधु को यथाशक्ति चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र आदि का दान दें। संस्कार कराने वाले गुरु को वस्त्र, ताम्बूल, आभूषण, मुद्रा (द्रव्य) आदि का दान करें।

इसी प्रकार जन्म-संस्कार, चन्द्र-सूर्य के दर्शन कराने वाले, क्षीराशन एवं षष्ठी- संस्कार कराने वाले गुरु को भी उसी दिन दान दें।

सभी गोत्रजन, स्वजन एवं मित्र वर्ग को यथाशक्ति भोजन एवं ताम्बूल प्रदान करें तथा गुरु उनके कुल-आचार के अनुसार शिशु को पंचगव्य, जिनस्नात्रजल, सर्वाषधि- जल एवं तीर्थ-जल से स्नान करवाकर

वस्त्र, आभूषण आदि पहनाए। सूतक के दिन पूर्ण हो जाने पर भी यदि आर्द्र नक्षत्र, सिंहयोनि नक्षत्र एवं गजयोनि नक्षत्र हो, तब स्त्री को सूतक स्नान नहीं करना चाहिए। आर्द्रनक्षत्र दस होते हैं - कृतिका, भरणी, मूल, आर्द्रा, पुष्य, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा एवं श्रवण। आर्द्र नक्षत्रों में स्त्री स्नान न करे। यदि स्नान कर लिया, तो फिर प्रसव नहीं होगा, ऐसी मान्यता है। सिंहयोनि नक्षत्र दो हैं - धनिष्ठा एवं पूर्वभाद्रपद। भरणी और रेवती गजयोनि नक्षत्र कहे गए हैं। सूतक दिवस पूर्ण होने पर भी यदि ये नक्षत्र आए, तो एक दिन के अन्तराल से शुचिकर्म करें।

शुचिकर्म-संस्कार के लिए सामग्री में पंचगव्य, तीर्थ-जल आदि वस्तुओं का एवं सगोत्रीयजनों की उपस्थिति का निर्देश किया गया है।

इस प्रकार वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में गृहिधर्म का शुचिकर्म-संस्कार नामक सातवाँ उदय समाप्त होता है।

// आठवाँ उदय // नामकरण-संस्कार-विधि

वर्धमानसूरि का कथन है कि मृदु, ध्रुव एवं क्षिप्र संज्ञक नक्षत्रों में बालक का जातकर्म संस्कार करें। गुरु एवं भृगु (शुक्र) के चतुर्थ स्थान में होने पर नामकरण संस्कार करना प्रशंसित माना गया है। गृहस्थ गुरु शुचिकर्म के दिन, अथवा उसके दूसरे या तीसरे दिन, अथवा अन्य किसी शुभ दिन में आसन पर पंचपरमेष्ठी मंत्र का स्मरण करते हुए सुखपूर्वक बैठे। उसके बाद शिशु के पिता, दादा आदि हाथों में पुष्प, फल रखकर गृहस्थ गुरु (विधिकारक) एवं ज्योतिषी को साष्टांग नमस्कार करके इस प्रकार कहे - "भगवन् ! पुत्र का नामकरण करें।" उसके बाद गुरु कुलपुरुषों को, कुलवृद्धाओं को एवं कुल की स्त्रियों को सामने बैठाकर ज्योतिषी को जन्म-लग्न का प्ररूपण करने के लिए कहे। ज्योतिषी शुभपट्ट पर खड़िया मिट्टी द्वारा उसका जन्मलग्न लिखें। स्थान-स्थान पर ग्रह स्थापित करें। उर्सके बाद शिशु के पिता, दादा आदि जन्मलग्न का पूजन करें। वहाँ 12 स्वर्णमुद्रा, 12 चांदी की मुद्रा, 12 तांबे की मुद्रा, 12 सुपारी, 12 जाति के फल, 12 नारियल, 12 पान के पत्ते (अथवा नागकेशर) इनसे 12 लग्नों की पूजा करें। इसी प्रकार नौ-नौ वस्तुओं द्वारा नवग्रहों की पूजा करें। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की संख्या कुल मिलाकर इक्कीस होगी। लग्न-पूजा हो जाने पर उनके समक्ष ज्योतिषी जो लग्न-विचार कहता है, उसे सब ध्यानपूर्वक सुनें। लग्न का सम्पूर्ण वर्णन ज्योतिषी कुंकुम अक्षरों से पत्र में लिखकर शिशु के कुल-ज्येष्ठ को अर्पण करे। उसके बाद पिता आदि ज्योतिषी को वस्त्र, स्वर्ण आदि देकर उनका सम्मान करें। ज्योतिषी शिशु के जन्मनक्षत्र के अनुसार नामाक्षर बताकर अपने घर जाए।

उसके बाद गृहस्थ गुरु सभी कुलपुरुषों, कुलवृद्धाओं एवं नारियों को सामने बैठाकर उनकी सम्मति से दूर्वा हाथ में लेकर परमेष्ठी मंत्र का स्मरण करते हुए, कुल वृद्धा के कान में जाति एवं कुलोचित (कुल के अनुरूप) नाम कहे। उसके बाद कुलवृद्धाएँ एवं नारियाँ गुरु के साथ, पुत्र को गोद में लिए हुए माता को शिविकादि (बेलगाड़ी आदि) वाहन में बैठाकर अथवा पैदल चलाते हुए, साथ में सधवा स्त्रियों द्वारा मंगल गीत गाते हुए, वाद्य बजाते हुए चैत्य (मन्दिर में) जाएं। वहाँ माता पुत्र सहित

जिनेश्वर को नमस्कार करे। माता चतुर्विंशति परिमाण से, अर्थात् चौबीस-चौबीस की संख्या में स्वर्ण एवं चांदी की मुद्राएँ, चौबीस नारियल आदि जिन-प्रतिमा के सम्मुख चढ़ाए।

उसके बाद परमात्मा के आगे कुलवृद्धाएँ शिशु का नाम प्रकट करें या कहें। गाँव या नगर में मंदिर का अभाव होने पर गृह-प्रतिमा के सम्मुख इसी प्रकार की विधि करें। उसके बाद वहाँ से पौषधशाला में आएँ। वहाँ प्रवेश करके भोजन-मण्डली के स्थान पर मण्डली-पट्ट को स्थापित कर उसकी पूजा करें। मण्डली-पूजा की विधि इस प्रकार है - शिशु की माता "श्री गौतमाय नमः" इन शब्दों का उच्चारण कर गन्ध, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य से मण्डली-पट्ट की पूजा करे। मण्डली-पट्ट पर दस स्वर्ण मुद्राएँ एवं दस चाँदी की मुद्राएँ, दस सुपारी, 108 नारियल, 29 हाथ परिमाण का वस्त्र स्थापित करे। उसके बाद स्त्री पुत्र सहित साधुओं को तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार करे। सोने-चाँदी की मुद्राओं से यति गुरु (साधु) के नवांग की पूजा करे। अक्षत से बधाकर और आरती उतारकर क्षमाश्रमण पूर्वक हाथ जोड़कर शिशु की माता "वासक्षेप करे" इस प्रकार कहे। उसके बाद यति गुरु वासक्षेप को ऊँकार-ह्रींकार-श्रींकार सन्निवेश के द्वारा अभिमन्त्रित कर कामधेनु मुद्रा से वर्धमानविद्या का जाप करते हुए माता एवं पुत्र-दोनों के सिर पर वासक्षेप डाले। वासक्षेप डालते समय भी उन दोनों के सिर पर ऊँ ह्रीं श्रीं अक्षर का सन्निवेश करे।

उसके बाद बालक को चन्दन का तिलक करके, अक्षत लगाकर, कुलवृद्धा के वचन के अनुवाद से शिशु का नामकरण करे। तत्पश्चात् उसी विधि से सभी को साथ लेकर अपने घर लौटे। यतिगुरु को चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र आदि का दान दें एवं गृहिगुरु को वस्त्र, अलंकार, स्वर्ण आदि का दान दें।

नान्दी एवं मंगलगीत, गृहस्थ गुरु, ज्योतिषी, प्रचुरमात्रा में फल, मुद्रा, विविध वस्त्र, वासक्षेप, चन्दन, दूब, नारियल आदि सब वस्तुएँ नामकरण-संस्कार-कार्य में परमावश्यक हैं।

इस प्रकार वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का नामकरण-संस्कार नामक यह आठवाँ उदय समाप्त होता है।

// नवाँ उदय //

अन्नप्राशन-संस्कार-विधि

जन्म से छठे महीने में पुत्र को एवं पाँचवे महीने में पुत्री को विधि अनुसार आहार कराएं। रेवती, श्रवण, हस्त, मृगशीर्ष, पुनर्वसु, अनुराधा, अश्विनी, चित्रा, रोहिणी, उत्तरात्रय अर्थात् उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी तथा उत्तराभाद्रपद, धनिष्ठा एवं पुष्य नक्षत्र - ये नक्षत्र दोषरहित कहे गए हैं। इसी प्रकार वारों में रविवार, सोमवार, बुधवार, गुरुवार और शुक्रवार अन्नप्राशन-संस्कार हेतु शुभ कहे गए हैं। नए अन्न का आहार शिशु के अन्न भोजन के लिए श्रेष्ठ माना गया है। रिक्ता आदि अशुभ तिथियाँ एवं अशुभ योग इस अन्नप्राशन-संस्कार हेतु वर्जित कहे गये हैं।

निर्धारित ग्रह, नक्षत्र, शुभवार देखकर एवं रिक्ता आदि तिथियों को छोड़कर यह संस्कार करना चाहिए। रवि लग्न में यह संस्कार किए जाने पर शिशु कुष्ठी होता है। मंगल लग्न में किए जाने पर पित्तरोगी होता है। शनि लग्न में किए जाने पर वातरोगी एवं नीच का चन्द्र होने पर यह संस्कार किया जाए, तो भिखारी होता है। बुध लग्न में अन्नप्राशन किया जाए तो ज्ञानी, शुक्र लग्न में भोगी एवं गुरु लग्न में चिरायु होता है तथा पूर्ण चंद्रमा होने पर वह पूजा करने वाला और दान देने वाला होता है।

कंटक, अर्थात् चौथे, सातवें, दसवें एवं अन्तिम अर्थात् बारहवें निधन, अर्थात् आठवें, त्रिकोण, अर्थात् पाँचवें, नवें - इन घरों में पूर्वोक्त ग्रह हो तो शरीर में शुभफल देते हैं। छठे और आठवें घर में चंद्रमा अशुभ होता है। केन्द्र, अर्थात् पहले, चौथे, सातवें, दसवें, त्रिकोण, अर्थात् पाँचवें एवं नवें - इन घरों में सूर्य हो, तो अन्न का नाश होता है।

इस प्रकार बालक का छठे मास में एवं बालिका का पाँचवे मास में, पूर्वोक्त शुभ नक्षत्र, तिथि, वार एवं योग होने पर शिशु के चंद्रबल को देखकर अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए। इसकी विधि इस प्रकार है -

गुरु पूर्वोक्त वेश को धारण कर शिशु के घर में जाकर देश में उत्पन्न होने वाले सभी अन्नों का संग्रह करे। साथ ही देश में उत्पन्न एवं नगर में प्राप्त होने वाले फलों एवं छः विकृतियों (दूध, दही, घी, तेल, गुड़ एवं तली हुई वस्तुओं) को संग्रहित करे।

उसके बाद सभी प्रकार के अन्नो, सब्जियों एवं विकृतियों को घी, तेल, ईक्षुरस, गोरस (दूध) एवं जल में पकाकर अनेक प्रकार के, अर्थात् सैकड़ों तरह के व्यंजन बनाए।

फिर अर्हत्-प्रतिमा को बृहत्स्नात्र विधि से पंचामृत स्नान कराए। अर्हत्कल्प में उल्लेख किए हुए नैवेद्य मंत्र द्वारा, अन्न, शाक एवं विकृति के पाक को पृथक् पात्र में संचित कर जिन-प्रतिमा के सम्मुख चढ़ाए। सभी प्रकार के फल भी रखे।

उसके बाद शिशु पर जिन-प्रतिमा के स्नात्रजल का सिंचन करे। पुनः वे सब वस्तुएँ, जो जिन-प्रतिमा के सम्मुख चढ़ाई थीं, वे सब वस्तुएँ अमृताश्रवमंत्र, जिसमें सूरि मंत्र भी शामिल है, के द्वारा श्री गौतमस्वामी की प्रतिमा के सम्मुख रखे। उसी प्रकार की सब वस्तुएँ कुलदेवता के मंत्र द्वारा कुलदेवता को एवं देवीमंत्र से गौत्रदेवी की प्रतिमा के सम्मुख चढ़ाए। उसके पश्चात् कुलदेवी के नैवेद्य में से शिशु के योग्य आहार लेकर मंगलगीत गाए जाने पर माता पुत्र के मुख में दे। गृहस्थ गुरु निम्न वेदमंत्र का तीन बार उच्चारण करे -

“अहं भगवानर्हन् त्रिलोकनाथः त्रिलोकपूजितः सुधाधारधारितश-
रीरोऽपि कावलिकाहारमाहारितवान् तपस्यन्नपि पारणाविधाविक्षुरसपरमान्न-
भोजनात्परमानन्दादापकं केवलं। तदेहिन्नौदारिकशरीरमाप्तस्त्वमप्याहार्य
आहारं तत्ते दीर्घमायुरारोग्यमस्तु अहं ऊँ॥”

उसके पश्चात् छः विकृतियों एवं छः रसों से युक्त आहार साधुओं को दें। यति गुरु के मण्डलपट्ट के ऊपर खीर से भरा हुआ स्वर्ण पात्र रखें। फिर द्रोण के प्रमाणानुसार सभी प्रकार के अन्न का दान करें, तुला प्रमाण, घी, तेल, लवण (नमक) आदि का दान करें एवं सभी प्रकार के 108 फल, तांबे का चरु (कलश), कांसे की थाली एवं वस्त्र युगल आदि गृहस्थ गुरु को प्रदान करें।

इस संस्कार हेतु सभी प्रकार के अन्न, फल एवं विकृतियां, स्वर्ण, चांदी, न्नाम्र एवं कांस्य के पात्र आदि सभी वस्तुएँ एक स्थान एकत्रित करें।

इस प्रकार वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का अन्नप्राशन- संस्कार नामक यह नवाँ उदय समाप्त होता है।

// दसवाँ उदय // कर्णवेध—संस्कार—विधि

वर्धमानसूरि के अनुसार कर्णवेध—संस्कार के लिए उत्तरात्रय, अर्थात् उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी और उत्तराभाद्रपद, हस्त, रोहिणी, रेवती, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशीर्ष एवं पुष्य नक्षत्र शुभ कहे गए हैं। रेवती, श्रवण, हस्त, अश्विनी, चित्रा, पुष्य, धनिष्ठा, पुनर्वसु, अनुराधा — इन नक्षत्रों में चन्द्रमा का योग होने पर ही कर्णवेध करें। ग्यारहवें एवं तीसरे स्थान में शुभ ग्रहों के संयुक्त होने पर शुभ राशि तथा लग्न में क्रूर ग्रहों के न होने पर बृहस्पति के लग्नाधिप या लग्न में होने पर कर्णवेध करें। पुष्य, चित्रा, श्रवण और रेवती— ये चंद्र नक्षत्र कहे गए हैं। क्रूर योग से रहित तृतीय स्थान का लाभ होने पर शुभराशिलग्न तथा देवलग्न में पुष्य, चित्रा, अश्विनी एवं पुष्य नक्षत्र में कर्णवेध करना चाहिए।

रवि, मंगल, गुरु, शुक्र आदि शुभ वारों में तथा श्रेष्ठ तिथि होने पर एवं शुभ योग होने पर शिशु का कर्णवेध संस्कार करना चाहिए। इस प्रकार निर्दोष वर्ष, मास, तिथि, वार, नक्षत्र होने पर शिशु के रवि—चन्द्र बल में ही कर्णवेध—संस्कार किया जाता है। जैसा कि कहा गया है — गर्भाधान, पुंसवन, चन्द्र—सूर्य दर्शन, क्षीराशन, षष्ठी, शुचिकर्म, नामसंस्कार, अन्नप्राशन आदि संस्कार आवश्यक कार्य होने से पंडित पुरुषों ने इसके लिए वर्ष, मासादि की शुद्धि का निषेध किया है, अर्थात् उसे न देखें मात्र निश्चित मास या दिन में शुभ मुहुर्त का विचार करे। संस्कारों में कुछ संस्कार तो विवाह के समान होते हैं, अतः उनमें भी विवाह की तरह शुद्ध वर्ष, मास, दिन आदि देखते हैं। कर्णवेध हेतु तीसरा, पांचवाँ, सातवाँ वर्ष निर्दोष है। इसमें भी जिस मास में शिशु का सूर्य बलवान् हो, उस मास में गुरुवार आदि शुभ दिनों में अमृतमंत्र द्वारा जल को अभिमंत्रित करें। उस अभिमंत्रित जल से सधवा स्त्रियाँ मंगलगीत गाते हुए शिशु एवं उसकी माता को स्नान कराएं। यहाँ कुल—आचार के अनुसार विशेष तेल मर्दन कराकर तीसरे, पाँचवें, नवें तथा ग्यारहवें दिन यह स्नान किया जाता है।

फिर गृहस्थ गुरु उसके गृह में पौष्टिककर्म अधिकार के अनुरूप पौष्टिक की सर्व विधि करे। षष्ठी माता को छोड़कर आठ माताओं की पूर्वानुसार पूजा करे। उसके पश्चात् अपने—अपने कुल की परम्परा के

अनुसार किसी अन्य ग्राम में, कुल देवता के स्थान पर, पर्वत पर, नदी के किनारे अथवा घर में कर्णवेध संस्कार की क्रिया करें।

वहाँ मोदक, नैवेद्य आदि बनाने का कार्य, गीत-गान आदि मंगलाचार एवं अन्य सब कार्य अपने कुलाचार के अनुरूप ही करें। उसके बाद बालक को सुखासन में पूर्वाभिमुख बैठाकर उसका कर्णछेदन, अर्थात् कर्णवेध किया जाए। उस समय गृहस्थ गुरु निम्न वेदमंत्र बोले -

“ॐ अर्हं श्रुतेनांगैरुपांगैः कालिकैरुत्कालिकैः पूर्वगतैश्चूलिकाभिः परिकर्मभिः सूत्रैः पूर्वानुयोगैः छन्दोभिर्लक्षणैर्निरुक्तैर्धर्मशास्त्रौर्विद्वकर्णो भूयात् अर्हं ॐ ॥”

शूद्र यह मंत्र बोले -

“ॐ अर्हं तव श्रुतिद्वयं हृदयं धर्माविद्धमस्तु ॥”

उसके बाद बालक को वाहन में बैठाकर अथवा नर-नारी गोद में बैठाकर उपाश्रय में ले जाएं। वहाँ पूर्व में बताई गई विधि के अनुरूप मण्डली-पूजा आदि करके शिशु को यतिगुरु के चरणों के आगे लेटा दें। यतिगुरु विधिपूर्वक वासक्षेप डाले। फिर वहाँ से बालक को उसके घर ले जाकर गृहस्थ गुरु कर्ण आभरण पहनाए। यतिगुरु को चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र आदि का दान करें और गृही गुरु को वस्त्र एवं स्वर्ण का दान दें।

कर्णवेध के लिये पौष्टिक-कर्म के उपकरण, कुलोचित मातृपूजा एवं अन्य वस्तुओं की व्यवस्था विचक्षण व्यक्ति द्वारा अवश्य की जानी चाहिए।

इस प्रकार आचार्य वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहिधर्म का कर्णवेध-संस्कार नामक दसवाँ उदय समाप्त होता है।

// ग्यारहवाँ उदय // चूडाकरण—संस्कार—विधि

तीनों हस्त (हस्त, चित्रा, स्वाति), मृगशीर्ष, ज्येष्ठा, रेवती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा - इन नक्षत्रों में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, त्रयोदशी आदि शुभ तिथियों में तथा सोमवार, बुधवार एवं शुक्रवार में से किसी शुभ वार को बालक का चंद्रबल एवं ताराबल देखकर क्षौरकर्म किया जाना चाहिए। पर्वों के दिनों में, यात्रा में, स्नान के पश्चात्, भूषित होने पर, त्रिसंध्या के समय, रात्रि में, संग्राम (रणक्षेत्र) में, वन में और ऊपर कही गई तिथियों एवं वारों के अतिरिक्त अन्य किसी तिथि या दिन में तथा किसी मंगल कार्य के प्रसंग में क्षौरकर्म नहीं करना चाहिए।

क्षौरकर्म उपयुक्त नक्षत्रों में अपनी कुल-विधि के अनुसार करना चाहिए किन्तु मुनिजनों का कथन है कि जब बुध, गुरु और शुक्र ग्रह केन्द्र में हो, तब यह क्षौरकर्म करना चाहिए। यदि उस समय सूर्य केन्द्र में हो, तो जातक ज्वर से पीड़ित होता है, मंगल निर्बल हो तो शस्त्र से नाश होता है एवं नीच का शनि होने पर शरीर का नाश होता है।

चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी एवं काली चतुर्दशी सहित अमावस्या क्षौरकर्म हेतु वर्जित है। धन, व्यय एवं त्रिकोण में अशुभ ग्रह हों, तो मृत्यु को देने वाले होते हैं, अतः उस स्थिति में क्षौरकर्म नहीं करना चाहिए और इन्हीं घरों में शुभ ग्रह हों, तो यह क्षौर-क्रिया पुष्टिकारक होती है।

बालक का सूर्य जिस मास में बलवान् हो, उस महीने में एवं जिस दिन चंद्र बलवान् हो, उस दिन ऊपर कही गई तिथियों, वारों एवं नक्षत्रों के होने पर कुलाचार के अनुरूप कुलदेवता के स्थान पर ग्राम, वन, पर्वत अथवा घर में शास्त्रोक्त विधि से पौष्टिककर्म करें। तत्पश्चात् षष्ठी माता को छोड़कर शेष सभी माताओं की पूर्ववत् पूजा करें। उसके बाद कुलाचार के अनुसार कुल-देवता के लिए नैवेद्य, पकवान आदि बनाएं। ये सब करने के बाद गृहस्थ गुरु स्नान किए हुए बालक को आसन पर बैठाकर बृहत्स्नात्र विधि से प्राप्त जिन-स्नात्र जल के द्वारा शान्तिदेवी के मंत्र से उसे अभिसिंचित करें। उसके बाद कुल परम्परागत नाई के हाथ से बालक का मुण्डन कराएं। तीनों ही वर्ण में सिर के मध्य भाग में शिखा रखते हैं।

शूद्र सर्व मुण्डन, अर्थात् पूरा ही मुण्डन करवाते हैं, शिखा नहीं रखते ।
चूड़ाकरण करते समय निम्न मंत्र का पाठ करें —

“ॐ अहं ध्रुवमायुर्ध्रुवमारोग्यं ध्रुवाः श्रियो ध्रुवं कुलं ध्रुवं यशो ध्रुवं
तेजो, ध्रुवं कर्म ध्रुवा च कुलसन्ततिरस्तु अहं ॐ ॥”

इस मंत्र का सात बार पाठ करके तीर्थजल से शिशु को अभिसिंचित करें। उस स्थान पर गीत, वाद्य आदि की व्यवस्था करें। उसके बाद पंचपरमेष्ठी का पाठ करते हुए बालक को आसन से उठाकर स्नान कराएं। स्नान करवाने के बाद उसे चन्दन आदि का लेप करें, श्वेत वस्त्र पहनाएं तथा उपाश्रय में आभूषणों से भूषित करें। वहाँ से बालक को उपाश्रय ले जाएं। मण्डली पूजा, गुरुवंदन करना व वासक्षेप लेना आदि क्रियाएँ पूर्व की भांति ही करें।

उसके पश्चात् साधुओं को वस्त्र, अन्न, पात्र एवं षटविकृतियों का दान करें। गृही गुरु को वस्त्र एवं स्वर्ण का दान करें। नाई को वस्त्र एवं कंकण का दान करें।

इस प्रकार मातृपूजा एवं पौष्टिककर्म के उपकरण एवं कुलोचित नैवेद्य आदि इस मुण्डन-संस्कार-विधि हेतु आवश्यक है।

इस प्रकार वर्धमानसूरि रचित आचारदिनकर में गृहिधर्म का चूड़ाकरण-संस्कार नामक ग्यारहवां उदय समाप्त होता है।

// बारहवाँ उदय // उपनयन-संस्कार-विधि

उपनयन नामक संस्कार मनुष्यों के वर्ण विशेष में प्रवेश कर, तदनुरूप वेश एवं मुद्रा धारण करने के लिए तथा अपने-अपने गुरु के द्वारा उपदिष्ट धर्म-मार्ग में प्रवेश करने के लिए किया जाता है। जैसे आगम में कहा गया है - "धर्माचार में और चारित्र-पालन में वेश प्रथम कारण है। संयम एवं लोक-लज्जा के हेतु श्रावक एवं साधुओं के लिए वेश आवश्यक है।" धर्मदासगणि ने उपदेशमाला में कहा है कि -

"वेश धर्म की रक्षा करता है। वेश से "मैं दीक्षित हूँ" - इस प्रकार का मन में विचार कर लज्जित होता है। जैसे राजा जनपद की रक्षा करता है, उसी प्रकार उन्मार्ग में जाते हुए व्यक्ति की वेश रक्षा करता है।"

इक्ष्वाकुवंश, नारदवंश, प्राच्यवंश, औदीच्यवंश आदि के जैन ब्राह्मण उपनयन और जिन उपवीत को धारण करें तथा क्षत्रिय वंश में उत्पन्न जिनों, चक्रवर्तियों, बलदेव एवं वासुदेवों की तथा श्रेंयासकुमार, दशार्णभद्रादि राजाओं एवं हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, विद्याधरवंश आदि में उत्पन्न होने वालों की उपनयन या जिनोपवीत धारण की विधि है।

जैसा कि आगम में कहा गया है -

"हे देवानुप्रिया अतीत में न कभी ऐसा हुआ है, वर्तमान में न कभी ऐसा होता है और न ही कभी भविष्य में ऐसा होगा। अरहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव अन्त्यकुलों, हीनकुलों, प्रान्तकुलों, अधमकुलों, तुच्छकुलों, दरिद्रकुलों, कृपणकुलों, भिक्षुककुलों, माहण् अर्थात् ब्राह्मणकुलों में न कभी आए हैं, न कभी आते हैं और न कभी आएंगे। इस प्रकार निश्चय ही अरहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, उग्रवंशीयकुलों, भोगवंशीयकुलों, राजन्यकुलों, इक्ष्वाकुवंशीयकुलों, क्षत्रियकुलों, हरिवंशीयकुलों तथा इसी प्रकार के अन्य भी विशुद्ध कुल तथा विशुद्ध वंश वाले कुलों में उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे, किन्तु लोक में इस प्रकार की आश्चर्यजनक घटना भी अनन्त उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् घटित होती है, जबकि नीच नाम और गोत्रकर्म के क्षय न होने से, इन कर्मों की निर्जरा नहीं होने से तथा इन कर्मों के उदय में आने पर अरहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, अन्त्यकुलों, प्रान्तकुलों, तुच्छकुलों, दरिद्रकुलों, भिक्षुककुलों, कृपणकुलों,

ब्राह्मणकुलों में अतीत में आए हैं, वर्तमान में आते हैं और भविष्य में आएंगे, अर्थात् उक्त हीनादि कुलों वाली माताओं की कुक्षि में गर्भरूप में अतीत में उत्पन्न हुए हैं, वर्तमान में उत्पन्न होते हैं और भविष्य में उत्पन्न होंगे, परन्तु उक्त निम्नकुलों वाली माताओं के उदर (योनि) से अरहंतादि ने न कभी जन्म लिया है, न कभी जन्म लेते हैं और न कभी जन्म लेंगे।

तो अतीतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल के शक्र देवेन्द्र देवराजों का यह जीताचार-कर्त्तव्य है कि वे अरहंत भगवान् को तथा प्रकार के अन्त्यकुलों, प्रान्तकुलों, तुच्छकुलों, दरिद्रकुलों, भिक्षुककुलों और कृपणकुलों से हटाकर तथा अन्य प्रकार के उग्रकुलों, भोगकुलों, राजन्यकुलों (ज्ञातकुलों), क्षत्रियकुलों, हरिवंशकुलों अथवा तथा प्रकार के अन्य भी विशुद्ध जाति, कुल और वंशों में स्थापित करें। अतः मेरे लिए यह निश्चित रूप से श्रेयस्कर है कि पूर्व तीर्थकरों द्वारा निर्दिष्ट, श्रमण भगवान् महावीर चरम तीर्थकर (जीव) को माहणकुण्डग्राम नामक नगर से कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की भार्या जालन्धर गोत्रीया देवानंदा की कुक्षि से (सहृत्कर) क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर में ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ क्षत्रिय की पत्नी वशिष्ठ गोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूप में संचारित-स्थापित करूं।

इस प्रकार वे क्षत्रिय कुल भी श्रेष्ठ होने से उपनयन के योग्य होते हैं। ऐसा माना जाता है कि वैश्यों में कार्तिक सेठ एवं कामदेव आदि श्रावकों ने भी जिनउपवीत को धारण किया था, शूद्रों में भी कुम्भकार आनंद आदि ने श्रावकव्रत ग्रहण कर उत्तरीय वस्त्र को धारण किया था। शेष वणिक, कारू आदि को उत्तरासन धारण करने की आज्ञा है।

जिनोपवीत-जिनेश्वर भगवान् की गार्हस्थ्य मुद्रा है, अतः सर्व बाह्य-आभ्यन्तर कर्मों से विमुक्त निर्ग्रन्थ यतियों का नवब्रह्मगुप्ति से संरक्षित तथा हृदयस्थिति नवब्रह्मगुप्ति से युक्त होने से उन्हें रत्नमय सूत्र रूप उपवीत को वहन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे तत्स्वरूप हैं।

जैसे समुद्र को हाथ में जलपात्र को धारण करने की आवश्यकता नहीं होती, सूर्य को दीपक की आवश्यकता नहीं होती है, वैसे ही निर्ग्रन्थ मुनियों को जिन-उपवीत धारण करना आवश्यक नहीं है। जैसा कि कहा गया है कि -

“विप्रों के लिए अग्नि में देवता है, योगियों के लिए हृदय में देवता है और जो अल्पबुद्धि, अर्थात् गृहस्थधर्मी श्रावकादि हैं, उनके लिए भगवान् की प्रतिमा ही देव है।

अतः यति (मुनि) शिखा एवं सूत्र को छोड़कर भी नवब्रह्मगुप्ति से युक्त रत्नत्रय का करण, कारण और अनुमति तीनों प्रकार से सदैव आदर करते हैं। गृही ब्रह्मगुप्ति से युक्त रत्नत्रय का श्रवण एवं स्मरण कर तथा उन्हें अंशतः ग्रहण कर ब्रह्मगुप्ति रूप रत्नत्रय को सूत्रमुद्रा के द्वारा हृदय पर धारण करते हैं।

“प्रतिमास्वल्पबुद्धिना” इस वचन से तादाम्य-तदात्म रूप न होने से मुद्रा धारण की जाती है, जैसे छदमस्थ द्वारा बाह्य-आभ्यन्तर तपःकर्म तथा नवतन्तुगर्भित त्रिसूत्र में से आगे का एक सूत्र ग्रहण करना।

इसी प्रकार विप्र को नवतन्तुगर्भित सूत्रमय एक अग्र-ऐसे तीन अग्र, क्षत्रिय को प्रथम के दो अग्र, वैश्य को प्रथम एक अग्र, शूद्र को उत्तरीय वस्त्र एवं अन्य, अर्थात् वणिक आदि हेतु उत्तरासंग की अनुज्ञा है। इस प्रकार की व्यवस्था क्यों है ? तो इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि ब्राह्मणों के लिए नवब्रह्मगुप्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रय स्वयं करणीय है, दूसरों से कराने योग्य है। ब्रह्मगुप्ति से गुप्त ब्राह्मण सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र्य के द्वारा रत्नत्रयी का स्वयं आचरण करते हैं, दूसरों को अध्यापन द्वारा सम्यक्त्व का उपदेश देकर एवं आचार-प्ररूपणा द्वारा उसका पालन कराते हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्म-उपासना के द्वारा श्रद्धावान् तथा अनुज्ञा प्रार्थी श्रद्धावंतो को उसका पालन कराने की अनुज्ञा देते हैं।

इसलिए नवब्रह्मगुप्ति गर्भित रत्नत्रय को करना, कराना और अनुमोदना (अनुज्ञा) सहित धारण करने के कारण ब्राह्मणों के जिन-उपवीत में आगे के त्रिसूत्र होते हैं। क्षत्रिय रत्नत्रय का स्वयं आचरण करते हैं एवं अपनी शक्ति से तथा न्याय की प्रवृत्ति से दूसरों को भी रत्नत्रय के आचरण की प्रेरणा देते हैं, पर दूसरों को अनुज्ञा (आदेश) नहीं दे सकते। वे प्रभुत्वशाली होते हैं, पर दूसरों को नियम हेतु बाध्य नहीं कर सकते, अतः क्षत्रिय को आगे के दो सूत्र युक्त जिनउपवीत को धारण करने का विधान है।

वैश्य ज्ञान एवं भक्ति से सम्यक्त्व को ग्रहण कर अपनी शक्ति के अनुरूप उपासक के आचार का स्वयं आचरण करता है। उसका यह

अधिकार नहीं है कि वह रत्नत्रय की आराधना के लिए दूसरों को उपदेश, या आज्ञा दे। अतः वैश्य एक सूत्रमय जिनउपवीत को धारण करता है। शूद्र ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रय का स्वयं आचरण करने में अशक्त होता है, तो फिर कारण एवं अनुज्ञा की तो बात ही क्या ? क्योंकि वे अधम जाति के, बलहीन एवं अज्ञानी होते हैं, अतः उनको जिनाज्ञा भूत उत्तरीय वस्त्र धारण करने की अनुज्ञा है। उनसे भिन्न वणिक् आदि को देव, गुरु, धर्म की उपासना के समय जिनाज्ञा रूप उत्तरासंग मुद्रा धारण करने की आज्ञा है।

जिनउपवीत का स्वरूप इस प्रकार है - दोनों स्तनों के अन्तर के समरूप चौरासी धागों का एक सूत्र करें, फिर उसे त्रिगुण करें, पुनः उस त्रिगुण सूत्र का त्रिगुण करें, ऐसा एक तन्तु होता है। उसके साथ ऐसे दो तन्तु और जोड़े, इसका एक अग्र होता है। ब्राह्मण के तीन, क्षत्रिय को दो एवं वैश्यों को ऐसा एक अग्र धारण करने की व्यवस्था है। दूसरे मतों में इस प्रकार कहा गया है - "सत्युग में स्वर्ण का, त्रेतायुग में चांदी का सूत्र करते थे, द्वापर युग में ताँबे का एवं कलियुग में कपास का सूत्र बताया गया है।" जिनमत में तो ब्राह्मणों को हमेशा स्वर्ण-सूत्र एवं क्षत्रिय और वैश्यों को कपास के सूत्र को ही धारण करने के लिए कहा गया है। यह जिन उपवीत की विधि है।

अब उपनयन विधि का वर्णन किया जा रहा है -

"जो क्रमारोह की युक्ति से प्राणी को वर्ण-पुष्टि (पूर्णता) तक ले जाए, वह उपनयन है। इस उपनयन (जिन-उपवीत) का श्रवण, धनिष्ठा, हस्त, मृगशीर्ष, अश्विनी, रेवती, स्वाति, चित्रा, पुनर्वसु तथा मृगशिर, रेवती, श्रवण, धनिष्ठा, हस्त, स्वाति, चित्रा, पुष्य और अश्विनी नक्षत्रों में धारण एवं मोचन किया जाता है।" - ऐसा आचार्यों का कथन है।

ब्राह्मणों में गर्भाधान से, अथवा जन्म से आठवें वर्ष में मौन्जीबन्ध करने का विधान है। क्षत्रियों में ग्यारहवें वर्ष में एवं वैश्यों को बारहवें वर्ष में वेदाध्ययन रूप उपनयन करने का विधान है।

वर्ण के स्वामी के बलवान् होने पर उपनयन-क्रिया करना उपयुक्त होता है। उस समय व्यक्ति के गुरु, चन्द्र और सूर्य बलशाली होना चाहिए। ब्राह्मणों में उपनयन करने के लिए यह विधान है, जब शाखा का स्वामी ग्रह बली हो, या केन्द्रगत हो एवं निर्दिष्ट वार हो, तब उन्हें

उपनयन करना चाहिए। गुरु एवं शुक्र नीच घर में एवं शत्रु घर में होने पर श्रुतविधि (अध्ययन) स्मृतिकर्म में हीन होती है।

लग्न में बृहस्पति हो, त्रिकोण में शुक्र हो और शुक्रांश में चंद्रमा हो, तो जैन वेदवित् होता है। शुक्र सहित सूर्य लग्न में शनि के अंश में स्थित हो, तो सीखी हुई विद्या भूल जाते हैं, ऐसा कृतघ्न होता है। केन्द्र में बृहस्पति हो तो स्व-अनुष्ठान में रत होता है, प्रवर मतियुत होता है। शुक्र हो, तो विद्या, सौख्य एवं अर्थयुक्त होता है। बुध हो, तो अध्यापक होता है। सूर्य हो, तो राजा का सेवक होता है। मंगल हो, तो शूरवीर होता है। चंद्रमा हो, तो व्यापारी होता है। शनि हो, तो नीच जाति का सेवक होता है। शनि के अंश में मूर्खता का उदय होता है। सूर्य के अंश में क्रूरता होती है। मंगल के अंश में पापबुद्धि होती है, चंद्रांश में अतिजडता होती है, बुधांश में अतिपटु होता है, गुरु शुक्रांश में सुज्ञ होता है। सूर्य सहित बृहस्पति हो, तो निर्गुण होता है, अर्थ हीन होता है। मंगल सहित सूर्य हो, तो क्रूर होता है; बुध सहित हो, तो पटु होता है; शनि सहित हो, तो आलसी और निर्गुण होता है, चंद्र सहित शुक्र हो, तो अर्थहीन होता है। पूर्वोक्त निर्दोष नक्षत्रों में मंगलवार के अतिरिक्त शेष अन्य वारों में, दिनशुद्धि में, शुभग्रहयुक्त लग्न में विवाह के समान त्याज्य नक्षत्र-दिन का वर्जन करके ग्रह निर्मुक्त पाँचवें लग्न में व्रत को ग्रहण करें।

सर्वप्रथम अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप उपनयन होने योग्य पुरुष को नौ, सात, पांच या तीन दिन तेल का मर्दन करवाकर स्नान कराएं। उसके पश्चात् लग्नदिन में गृहस्थ गुरु उसके घर आकर ब्रह्ममुहूर्त में पौष्टिककर्म करे। तत्पश्चात् उपनयन योग्य पुरुष के सिर पर शिखा को छोड़कर, शेष बालों का मुण्डन कराएं। तत्पश्चात् योग्य भू-भाग में वेदी स्थापित करें। मध्य में चौकी रखें। वेदी-प्रतिष्ठा आगे कथित विवाह अधिकार के समान ही बनाएं। गृहस्थ गुरु चौकी पर समवशरण के समान चतुर्मुख जिनबिंब की स्थापना करे। उनकी पूजा करके, गृहस्थ गुरु बिना सिले हुए श्वेतवस्त्र एवं उसी वस्त्र का उत्तरासंग किए हुए तथा अक्षत, नारियल और सुपारी को हाथ में लिए हुए उपनेय पुरुष से तीन प्रदक्षिणा कराएं। उसके बाद गुरु उपनेय पुरुष को वामपार्श्व में बैठाकर पश्चिमाभिमुख बिंब के सामने बैठकर प्रथम आर्हतस्तोत्रयुक्त शक्रस्तव का पाठ करे। पुनः तीन प्रदक्षिणा देकर उत्तराभिमुख जिनबिंब के सामने उसी प्रकार (पूर्ववत्) शक्रस्तव का पाठ करे। इसी प्रकार तीन-तीन प्रदक्षिणा

देकर पूर्वाभिमुख एवं दक्षिणाभिमुख जिनबिंब के सम्मुख भी उसी प्रकार से शक्रस्तव का पाठ करे। वहाँ मंगल गीत गाएं जाए एवं वाजिंत्र बजाएं। उस समय वहाँ आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ को एकत्रित करें। प्रदक्षिणा एवं शक्रस्तव के पाठ के बाद गृहस्थ गुरु उपनयन का प्रारंभ करने के लिए वेदमंत्र का उच्चारण करे। उपनेय पुरुष दूब, फल से परिपूर्ण हाथ को अंजलिबद्ध करके जिनप्रतिमा के समक्ष खड़े होकर मंत्र सुने। उपनयन आरंभ करने का वेदमंत्र इस प्रकार है —

“ॐ अहं अर्हद्भ्यो नमः, दर्शनाय नमः, चारित्राय नमः, संयमाय नमः, सत्याय नमः, शौचाय नमः, ब्रह्मचर्याय नमः, आकिंचन्याय नमः, तपसे नमः, शमाय नमः, मार्दवाय नमः, आर्जवाय नमः, मुक्तये नमः, धर्माय नमः, संघाय नमः, सैद्धांतिकेभ्यो नमः, धर्मोपदेशकेभ्यो नमः, वादिलब्धिभ्यो नमः, अष्टांगनिमित्तज्ञेभ्यो नमः, तपस्विभ्यो नमः, विद्याधरेभ्यो नमः, इहलोकसिद्धेभ्यो नमः, कविभ्योनमः, लब्धिमद्भ्यो नमः, ब्रह्मचारिभ्यो नमः, निष्परिग्रहेभ्यो नमः, दयालुभ्यो नमः, सत्यवादिभ्यो नमः, निःस्पृहेभ्यो नमः, एतेभ्यो नमस्कृत्यायं प्राणी प्राप्तमनुष्यजन्मा प्रविशति वर्णक्रमं अहं ॐ ॥”

वेदमंत्र का उच्चारण होने पर पूर्ववत् तीन-तीन प्रदक्षिणा देकर चारों दिशाओं में युगादिदेव आदिनाथ भगवान् के स्तवन सहित शक्रस्तव का पाठ करें। उस दिन उपनेय पुरुष जल व यव के अन्न से आयम्बिल करे। उसके बाद गृहस्थ गुरु उपनेय पुरुष को वामपार्श्व में बैठाकर (गृहस्थ गुरु) अमृतमंत्र द्वारा सर्व तीर्थ के जल को कुशाग्र पर लेकर उसे अभिसिंचित करे। फिर पंचपरमेष्ठी मंत्र का पाठ करके “नमोऽहत्सिद्धाचार्यो— पाध्यायसर्वसाधुभ्यः” — इस प्रकार कहकर पूर्वाभिमुख जिन प्रतिमा के आगे उपनेय पुरुष को खड़ा करें। उसके बाद गृहस्थ गुरु चन्दन को मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करे। वह चंदन—मंत्र इस प्रकार है —

“ॐ नमो भगवते, चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय, शशांकहारगोक्षीरध्वलाय, अनंतगुणाय, निर्मलगुणाय, भव्यजनप्रबोधनाय, अष्टकर्ममूलप्रकृतिसंशोधनाय, केवलालोकविलोकित— सकललोकाय, जन्मजरामरणविनाशनाय, सुमंगलाय, कृतमंगलाय, प्रसीद भगवन् इह चन्दनेनामामृताश्रवणं कुरु कुरु स्वाहा ॥”

इस मंत्र द्वारा चंदन को अभिमंत्रित करके हृदय पर जिन उपवीतरूप, कटि पर मेखलारूप एवं ललाट पर तिलकरूप रेखा अंकित

करे। उसके बाद उपनेय पुरुष गुरु के पैरों में गिरकर 'नमोस्तु-नमोस्तु' कहे। फिर खड़े होकर अंजली बांधकर इस प्रकार कहे -

“हे भगवन् ! मैं वर्णरहित हूँ, आचाररहित हूँ, मंत्ररहित हूँ, गुणरहित हूँ, धर्म रहित हूँ, शुद्धि से रहित हूँ, वेद से रहित हूँ, अतः पूजन, अध्यापन, पितृकर्म एवं अतिथिकर्म में मुझे नियोजित करें।”

पुनः “नमोस्तु-नमोस्तु” कहकर गुरु के चरणों में गिरता है। गुरु उपनेय पुरुष की शिखा को पकड़कर उसे निम्न मंत्रपूर्वक ऊपर की ओर उठाए -

“ॐ अहं देहिन्निमग्नोऽसि भवार्णवे तत्कर्षति त्वां भगवतोऽर्हतः प्रवचनैकदेशरज्जुना गुरुस्तदुत्तिष्ठ प्रवचनादादाय श्रद्धाहि अहं ॐ ॥”

इस प्रकार उपनेय को उठाकर जिनबिंब के समक्ष पूर्वाभिमुख खड़ा करे। तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु तीन तन्तुओं से बटी हुई एकाशीति (इक्यासी) हाथ हाथ परिमाण की मुंज-मेखला को अपने दोनों हाथों में रखकर निम्न वेदमंत्र का पाठ करे -

“ॐ अहं आत्मन् देहिन् ज्ञानावरणेन बद्धोऽसि, दर्शनावरणेन, बद्धोऽसि, वेदनीयेन बद्धोऽसि, मोहनीयेन बद्धोऽसि, आयुषा बद्धोऽसि, नाम्ना बद्धोऽसि, गोत्रेन बद्धोऽसि, अन्तरायेण बद्धोऽसि, कर्माष्टकप्रकृतिस्थितिरसप्रदेशैर्बद्धोऽसि, तन्मोचयति त्वां भगवतोऽर्हतः प्रवचनचेतना, तद् बुद्ध्यस्वः मामुहः, मुच्यतां तव कर्मबन्धनमनेन मेखलाबन्धेन अहं ॐ ॥”

इस मंत्र को पढ़कर उपनेय पुरुष के कटि भाग में नौ बार मोड़कर मेखला को बांधे। उसके पश्चात् “ॐ नमोस्तु - ॐ नमोस्तु” इस प्रकार कहकर उपनेय पुरुष गृहस्थ गुरु के चरणों में गिर जाए। ब्राह्मण को इक्सायी हाथ परिमाण मेखला, इक्यासी तन्तुगर्भित जिनउपवीत की सूचना देने के लिए है। क्षत्रियों के लिए चौवन 54 हाथ परिमाण तन्तुगर्भ की मेखला, चौवन हाथ जिनउपवीत को धारण करने का निर्देश किया है। विप्रों को नौ गुना करके, क्षत्रियों को छः गुना करके एवं वैश्यों को तिगुना करके मेखला बांधनी चाहिए।

इस कटिसूत्र (मुंज की घास से निर्मित), लंगोटी एवं जिनउपवीत की पूजा तथा गीत आदि मंगलगान गाते हुए रात्रि जागरण लग्न-दिन की पूर्व रात्रि में करना चाहिए। उसके बाद पुनः गृहस्थ गुरु दोनो हाथों में उपनेय के एक बेंत चौड़ी और तीन बेंत लम्बी लंगोटी को रखकर निम्न वेदमंत्र का पाठ करे -

“ॐ अर्हं आत्मन् देहिन् मतिज्ञानावरणेन, श्रुतज्ञानावरणेन, अवीधज्ञानावरणेन, मनः पर्यायज्ञानावरणेन, केवलज्ञानावरणेन, इन्द्रियावरणेन, चित्तावरणेन, आवृतोऽसि तन्मुच्यतां तवावरणमनेनावरणेन अर्हं ॐ ।।”

वेदमंत्र का पाठ करने के पश्चात् उपनेय पुरुष की कमर में कौपीन (लंगोटी) पहनाएं। उसके पश्चात् उपनेय पुरुष “नमोऽस्तु-नमोऽस्तु” कहकर पुनः गुरु के चरणों में गिरे। यह सब करने के बाद पुनः तीन-तीन प्रदक्षिणा लेकर चारों दिशाओं में शक्रस्तव का पाठ करे। तब लग्न-वेला में गुरु पूर्वोक्त जिनोपवीत को अपने हाथ में रखे। उसके बाद उपनेय पुरुष पुनः खड़े होकर हाथ जोड़कर इस प्रकार कहें - “भगवन्! मैं वर्ण रहित हूँ, ज्ञानरहित हूँ, क्रियारहित हूँ, अतः जिनोपवीत देकर मुझ पर वर्ण, ज्ञान एवं क्रिया का समारोपण करें।” यह कहकर “नमोऽस्तु-नमोऽस्तु” कहते हुए गृहस्थ गुरु के चरणों में गिरे। गुरु पुनः पूर्व की तरह उत्थापन मंत्र द्वारा उसको उठाकर खड़ा करे। उसके पश्चात् गुरु दाहिने हाथ की हथेली पर जिनोपवीत ग्रहण करके ब्राह्मण को निम्नमंत्र से उपनीत करे -

“ॐ अर्हं नवब्रह्मगुप्तीः स्वकरणकारणानुमतीर्धारयेस्तदनन्तरम-
क्षम्यमस्तु ते व्रतं स्वपरतरणतारणसमर्थो भव अर्हं ॐ ।।”

क्षत्रियों को निम्नमंत्र से उपनीत करे -

“करण कारणाभ्यां धारयेः स्वस्य तरण समर्थो भव ।।”

वैश्यों को निम्नमंत्र से उपनीत करे -

“करणेन धारयेः स्वस्य तरण समर्थो भव”, शेष पूर्ववत् ।

इस प्रकार पंच परमेष्ठी मंत्र सहित वेदमंत्र का पाठ करके उपनेय के कण्ठ में जिनोपवीत को स्थापित करे। उसके बाद उपनेय पुरुष तीन प्रदक्षिणा देकर “नमोऽस्तु- नमोऽस्तु”- इस प्रकार कहकर गुरु को प्रणाम करे। गुरु भी “निस्तारपारगो भवेत्” (संसार को पार करने वाले होओ) इस प्रकार आशीर्वाद दे। फिर गृहस्थ गुरु पूर्वाभिमुख होकर जिनप्रतिमा के आगे शिष्य को वामपार्श्व में बैठाकर महाआगम रूपी क्षीरसागर के नवनीतरूप सर्वजगत् के साररूप, सर्ववांछितदायक, कल्पवृक्ष, कामधेनु एवं चिन्तामणि रत्न से भी बढ़कर, क्षणमात्र स्मरण करने पर मोक्ष को प्रदान करने वाले, पंचपरमेष्ठीमंत्र को गंध एवं पुष्प से पूजित दक्षिण कर्ण में तीन बार सुनाए।

फिर इस मंत्र का तीन बार उपनेय पुरुष के मुख से उच्चारण कराए, यथा -

“नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्जायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं।”

इसके पश्चात् उसको इस मंत्र-प्रभाव को सुनाएं, जो इस प्रकार है— इसके सोलह अक्षरों में से एक-एक अक्षर जगत् में प्रकाश करने वाला है। यह पंचनमस्कार मंत्र सैंकड़ों-हजारों लोगों को माहण (नाविक) के समान संसार-सागर से तारने वाला है। पंचनमस्कार मंत्र के चिन्तन मात्र से ही जल, अग्नि आदि का प्रकोप स्तंभित हो जाता है। शत्रु, विघ्न/काम, चोर, राजभय, घोर उपसर्ग आदि नष्ट हो जाते हैं। पंचनमस्कार मंत्र के पाचों पदों के अक्षरों को एकत्रित करके एक तरफ रखें और अनंतगुणों वाले तीनों लोकों को दूसरी ओर रखें, तो भी तीनों लोकों की अपेक्षा यह अधिक महिमाशाली है। जो लोग सुषमा आदि आरों की अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों से संसार के इस भवचक्र में फंसे हैं, उनके लिए भी यह मंत्र श्रेष्ठ तारक कहा गया है। पहले भी इस मंत्र को पाकर इस संसार में लोग मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। जब जिन मोक्ष पद को प्राप्त हुए, तब यह बेचारा जगत् उनके बिना कैसे रहता ? यह देखकर भुवन के उद्धार के लिए उन धीर पुरुषों ने अपना मंत्ररूप शरीर यहीं छोड़ दिया।

दिन की उत्पत्ति करने वाला सूर्य, पूर्णिमा का चन्द्र, जो पूर्णिमा जैसा होता है; पाताल, आकाश, स्वर्ग आदि सभी, बहुत अधिक कहने से क्या लाभ ? ऐसी कोई वस्तु है, नहीं है, जो उससे भिन्न, या जो उसके समान हो। सिद्धांतरूपी सागर के मथने से जो नवनीत निकला, वही परमेष्ठी मंत्र है। इसे हमेशा हृदय में धारण करना चाहिए। यह सब पापों को हरने में समर्थ तथा सर्ववांछित को देनेवाला है। मोक्ष-पद पर चढ़ने का सोपान है। यह महामंत्र पुण्यवानों को ही प्राप्त होता है। आपके द्वारा यह प्रयत्नपूर्वक धारण करने योग्य है, इसे चाहे जिसको न दें।

यदि इसे अज्ञानियों को सुनाया जाए तो यह श्रापरूप (कष्टदायी) होता है। अपवित्र, शठ (धूर्त) एवं अस्थिर चित्त वाले मनुष्य को इसका स्मरण नहीं करना चाहिए। अविनीतों (उद्दण्डों) को, वाचालों को, बालकों को, अशुचि से युक्त व्यक्ति को, अधर्मियों को, कुदृष्टि वाले पुरुषों को, अशुद्ध, दुष्ट एवं निम्न जातिवालों को कभी यह मंत्र नहीं देना चाहिए।

इस मंत्र से तुम विश्व में पूजित, सम्मानित हो जाओगे। प्राणान्त होने पर भी इसका त्याग करना उचित नहीं है। व्यक्ति गुरु का त्याग करने पर दुख को प्राप्त करता है। गुरु एवं मंत्र—दोनों का परित्याग करने पर महात्मा पुरुष भी नरक को प्राप्त होते हैं। यह जानकर हमेशा इस मंत्र को अच्छी तरह ग्रहण करना चाहिए। तुम्हारे समस्त कार्य इस मंत्र से निश्चय ही सिद्ध होंगे। गुरु द्वारा इस प्रकार की शिक्षा देने पर उपनीत पुरुष तीन प्रदक्षिणा देकर “नमोस्तु—नमोस्तु”— इस प्रकार कहकर गुरु को नमस्कार करे। गृहस्थ गुरु को स्वर्ण की जिनउपवीत, सफेद रेशमी वस्त्र एवं स्वर्ण का कटिसूत्र आदि अपनी शक्ति के अनुरूप दें। सारे संघ को तांबूल (पान) एवं वस्त्र प्रदान करें। इस प्रकार यह उपनयन व्रतबंधन विधि कही गई है।

अब व्रतादेश की विधि का वर्णन किया जा रहा है :- उसी क्षण, उसी संघ समुदाय में, उसी गीत वाद्य आदि उत्सव में, उसी चौकोर वेदिका की स्थापना का संयोग होने पर व्रतादेश का कार्य आरम्भ करना चाहिए। उसका क्रम इस प्रकार है -

गृहस्थ गुरु उपनीत पुरुष के सूती तथा रेशमी अन्तरीय एवं उत्तरीय वस्त्र उतरवा कर तथा मुंज की कटि—मेखला, लंगोटी, उपवीत आदि को उसकी देह पर धारण करवा कर उसके ऊपर कृष्ण मृगचर्म, या वृक्ष की छाल धारण कराएं। उसके हाथ में पलाश का दण्ड दें और इस मंत्र का पाठ करें।

“ॐ अहं ब्रह्मचार्योऽसि, ब्रह्मचारिवेषोऽसि, अवधि ब्रह्मचार्योऽसि, धृतब्रह्मचार्योऽसि, धृताजिनदण्डोऽसि, बुद्धोऽसि, प्रबुद्धोऽसि, धृतसम्यक्त्वोऽसि, दृढसम्यक्त्वोऽसि, पुमानसि, सर्वपूज्योऽसि, तदवधिब्रह्मव्रतं आगुरुनिर्देशं धारयेः अहं ॐ।”

इस मंत्र को पढ़कर उपनीत पुरुष को व्याघ्रचर्म, या काष्ठ से निर्मित आसन पर बैठाएं। उसके दाएँ हाथ की तर्जनी अंगुली में दूब युक्त सोने की पंचगुंजा माप की, अर्थात् सोलह मासे की पवित्र मुद्रिका पहनाएं। पवित्रिका धारण करवाने का मंत्र यह है—

“पवित्रं दुर्लभं लोके सुरासुरनृवल्लभम्। सुवर्णं हन्ति पापानि मालिन्यं च न संशयः।”

उसके बाद उपनीत पुरुष पंचपरमेष्ठी मंत्र का मुख से पाठ करते हुए गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य से चारों दिशाओं में रही हुई

जिनप्रतिमाओं की पूजा करें। उसके बाद जिन-प्रतिमा को प्रदक्षिणा दें। फिर गुरु की प्रदक्षिणा करके "नमोऽस्तु-नमोऽस्तु" कहकर वंदन करें और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहें - "हे भगवन् ! मैं उपनीत हूँ।" गुरु कहते हैं - "भलीभाँति उपवीत होओ"। पुनः उपनीत पुरुष "नमोस्तु-नमोस्तु" कहकर प्रणाम करते हुए इस प्रकार कहता है कि - "मेरा व्रत-बन्धन कर दिया गया है।" गुरु कहते हैं- "तुम्हारा कल्याण हो।" पुनः शिष्य "नमोस्तु-नमोस्तु" कहकर प्रणाम करके इस प्रकार कहता है - "हे भगवन् ! मुझे पर व्रतारोपण हो गया है।" गुरु कहते हैं - "भली भाँति किया हुआ हो, अर्थात् मंगलकारी हो।" पुनः शिष्य नमस्कार करके कहता है - "मैं ब्राह्मण, या क्षत्रिय, या वैश्य हो गया हूँ।"

(सर्वप्रथम ब्राह्मण शिष्य हेतु) गुरु कहते हैं - "व्रत में दृढ़ बनो, सम्यक्त्व में दृढ़ बनो।" पुनः शिष्य नमस्कार करके कहता है - "हे भगवन् ! यदि आपने मुझे ब्राह्मण बना दिया है, तो मुझे करणीय कार्यों का आदेश दें।" गुरु कहते हैं - "तुम्हें मैं जिनवाणी का आदेश देता हूँ।" पुनः नमस्कार करके शिष्य कहता है - "हे ब्रह्मन् ! नवब्रह्मगुप्ति गर्भित रत्नत्रय का आदेश दें।" गुरु कहते हैं - "मैं आदेश देता हूँ।" पुनः शिष्य कहता है- "क्या नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय का मुझे आदेश दिया गया है ?" "गुरु कहते हैं - "हाँ आदेश दिया गया है।" पुनः नमस्कार करके शिष्य कहता है - "क्या मुझे नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय का अच्छी तरह से आदेश दिया गया है।" गुरु कहते हैं - "हाँ आदेश दिया गया है।" पुनः नमस्कार करके शिष्य कहता है - "मुझे नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय का ज्ञान दें।" गुरु कहते हैं - "मैं ज्ञान देता हूँ।" पुनः शिष्य कहता है - "नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय की मुझे अनुज्ञा दें।" गुरु कहते हैं - "मैं अनुज्ञा देता हूँ।" पुनः शिष्य कहता है - "क्या नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय मेरे स्वयं के द्वारा करणीय है ?" गुरु कहते हैं - "करणीय है।" पुनः शिष्य कहता है - "क्या नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय को मैं अन्यों (दूसरों) को करवा सकता हूँ ?" गुरु कहते हैं - "करवा सकते हो।" पुनः शिष्य नमस्कार करके कहता है - "क्या नवब्रह्मगुप्तिगर्भितरत्नत्रय दूसरों को धारण कराने के लिए मैं अनुज्ञा दे सकता हूँ।" गुरु कहते हैं - "हाँ अनुज्ञा दे सकते हो।"

यहाँ क्षत्रियों के व्रतबन्धन में ब्राह्मण के व्रतबन्धन से कुछ अन्तर है। (उसमें) शिष्य कहता है - "हे भगवन् ! मैं क्षत्रिय हो गया हूँ।" गुरु

उसको आदेश एवं समादेश के लिए कहते हैं, पर अनुज्ञा के लिए नहीं कहते है। वह स्वयं कर सकता है और करवा सकता है, किन्तु दूसरों को करवाने की अनुमति नहीं दे सकता है। वैश्य को आदेश का, अर्थात् करने का ही कथन करते हैं, अर्थात् यह व्रतबंधन स्वयं उसके द्वारा करणीय है, ऐसा आदेश देते हैं, समादेश एवं अनुज्ञा नहीं देते। स्वयं को करने की ही अनुमति देते हैं। दूसरों को करवाने एवं दूसरों को करवाने की अनुज्ञा देने का कथन नहीं करते हैं।

उसके पश्चात् उपनीत पुरुष हाथ जोड़कर कहता है —“हे भगवन्! मुझको व्रत का आदेश (उपदेश) करें।” गुरु ब्राह्मण के लिए इस प्रकार व्रतादेश देते हैं — “परमेष्ठी महामंत्र को हमेशा हृदय में रखना, निर्ग्रन्थों एवं मुनिवशों की नित्य उपासना करना, प्रतिदिन त्रिकाल अर्हत् परमात्मा की पूजा करना, तीन बार सामायिक करना तथा सात बार शक्रस्त्व के द्वारा परमात्मा को वंदन करना। त्रिकाल, अथवा एक काल (एक समय/बार) शुद्ध जल से स्नान करना। मदिरा, मांस, मधु एवं तुच्छ फल, जैसे गूलर के फल आदि पांच उदुम्बर का सेवन नहीं करना। इसी प्रकार कच्चे दूध, दही आदि में भात (चाँवल) के मिलाने पर होने वाले पुषित, अर्थात् जीवोत्पत्तियुक्त द्विदल का तथा संसक्त संधान, अर्थात् जीवोत्पत्तियुक्त अचार आदि का सेवन नहीं करना एवं रात्रि भोजन भी नहीं करना। शूद्र का अन्न, या नैवेद्य मृत्यु का संकट आने पर भी न खाना। गृहस्थावास में पुत्रोत्पत्ति हेतु ही मैथुन की आकांक्षा रखना, काम-वासना से नहीं। चारों आर्यवेद, अर्थात् चारों अनुयोग का यथाविधि अध्ययन करना। कृषि, पशुपालन एवं सेवावृत्ति नहीं करना। सत्य बोलना, प्राणी रक्षा करना एवं दूसरे की स्त्री एवं धन की इच्छा नहीं करना। कषायों एवं विषयों का, दुःख आने पर भी सेवन नहीं करना। क्षत्रियों एवं वैश्यों के घर में भी प्रायः तुम्हे भोजन नहीं करना चाहिए, किन्तु ब्राह्मणों एवं जैनों के घर में भोजन कर सकते हो। इसी प्रकार अपनी जाति में भी (भोजन) कर सकते हो, परन्तु अपनी ही जाति में भी मिथ्यात्व से वासित एवं कामुक व्यक्ति के घर में भोजन मत करना। प्रायः स्वयं के द्वारा बनाया हुआ ही भोजन करना। अपक्व अन्न मत खाना, नीच व्यक्तियों द्वारा सरलता से दान में मिली हुई वस्तु भी ग्रहण मत करना। नगर में भ्रमण करते हुए किसी की काया से स्पर्श मत करना। उपवीत, स्वर्णमुद्रिका एवं अधोवस्त्र का कभी त्याग नहीं करना। किसी कारण विशेष

को छोड़कर सिर पर पगड़ी धारण मत करना। प्रायः (जितना हो सके उतना) सर्व जीवों को धर्मोपदेश देना। व्रतारोपण को छोड़कर गृहस्थ के शेष पन्द्रह संस्कार निर्ग्रन्थ गुरु की आज्ञा से कराना तथा शांतिक एवं पौष्टिक कर्म करना, जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठादि करवाना, निर्ग्रन्थ की आज्ञा से प्रत्याख्यान करना और अन्य को करवाना। दृढ़ सम्यक्त्व को धारण करना, मिथ्याशास्त्र का त्याग करना। अनार्य देशों में नहीं जाना और तीनों प्रकार की, अर्थात् मन, वचन, काया की शुद्धि से शौच का आचरण करना। वत्स, तुम्हारे द्वारा पाले जाने वाले इन व्रतों के आदेश की अवधि यावज्जीवन है। इस प्रकार यह ब्राह्मणों के व्रतादेश कहे गए हैं।

नीचे क्षत्रियों के व्रतादेश वर्णित है :-

हमेशा पंच परमेष्ठी महामंत्र का स्मरण करना और त्रिकाल शक्रस्तव द्वारा जिनेश्वरों को वन्दन करना। मदिरा, मांस, मधु (शहद), अचार, उदुंबर फल और रात्रि भोजन इनका यत्नपूर्वक त्याग करना। दुष्टों का निग्रह करना, युद्धादि के अतिरिक्त प्राणियों का वध नहीं करना। विधिपूर्वक साधुओं की उपासना करना तथा (गृहस्थों के) द्वादश व्रतों का पालन करना। निश्चित विधि का उल्लंघन न करते हुए विधिवत् परमात्मा की पूजा करना और प्रयत्नपूर्वक उपवीत सहित अधोवस्त्र को धारण करना। संन्यासी, अन्यधर्मी, ब्राह्मण एवं देवालयों के प्रति लोकाचारपूर्वक क्रमशः प्रणाम, दान, पूजादि कार्य करना। सभी सांसारिक विधि-विधान जैन ब्राह्मणों से एवं धार्मिक कार्य निर्ग्रन्थ मुनियों के द्वारा कराना तथा स्वयं को दृढ़ सम्यक्त्व से वासित करना। शत्रुओं से घिरी हुई युद्ध भूमि में हृदय में वीर रस को धारण करना। युद्ध में मौत का भय बिल्कुल भी नहीं रखना। गाय-ब्राह्मण-देव-गुरुजनों और मित्र की रक्षा के निमित्त एवं देश का विभाजन होने की स्थिति में (युद्ध में) मृत्यु को भी सहन करना। ब्राह्मण और क्षत्रियों की क्रिया में विद्यावृत्ति एवं व्रत की अनुज्ञा को छोड़कर अन्य कोई भेद नहीं है। शौर्य के द्वारा भूमि का अर्जन करने वालों के लिए दुष्टों को दण्ड देना, दुष्टों का निग्रह करना योग्य है, भूमि और प्रताप का लोभ करना उचित है। (ब्राह्मणव्यतिरिक्तं च क्षत्रियो दानमाचरेत्) क्षत्रिय को दान का आचरण करना चाहिए। ये क्षत्रियों के व्रतादेश हैं।

वैश्यों के लिए व्रतादेश निम्नानुसार हैं -

प्रतिदिन त्रिकाल परमात्मा की पूजा करना और सात बार परमात्मा की स्तुति करना। परमेष्ठी मंत्र का स्मरण करना और निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा करना। दोनों समय आवश्यक क्रिया (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान) करना एवं द्वादश व्रतों का पालन करना। गृहस्थोचित तपोविधि करना, उत्तम धर्म—श्रवण करना। परनिन्दा का त्याग करना और सभी जगह उचित व्यवहार करना। वाणिज्य, पशुपालन एवं कृषि द्वारा जीविका का उपार्जन करना। प्राणों के नाश का अवसर उपस्थित होने पर भी कभी सम्यक्त्व का परित्याग न करना। मुनियों को आहार, पात्र, वस्त्र एवं रहने के लिए स्थान देना। जो गहन कर्मबन्ध का निमित्त नहीं होता, उस प्रकार का उत्तम व्यापार करना। उपनीत वैश्य द्वारा इन कर्त्तव्यों का पूर्णतया पालन करना चाहिए। इस प्रकार यह वैश्यों का व्रतोदश कहा गया है।

अब चारों ही वर्णों के लिए जो समान व्रतादेश हैं, उसका विवरण निम्नांकित है :-

स्वयं के पूज्य गुरु के निर्देश के अनुसार देव की उपासना व धर्म का पालन करना। देव की अर्चना, साधुओं की पूजा (अर्थात् साधुओं का सत्कार करना) एवं ब्राह्मण तथा सन्यासियों को प्रणाम करना। न्याय—नीति द्वारा धन—उपार्जन करना एवं परनिन्दा (विकथा) का त्याग करना। कभी भी किसी की, विशेषकर राजा की, आलोचना (अवर्णवाद) नहीं करना। अपने सत्त्व का त्याग नहीं करना एवं सम्पत्ति के अनुरूप दान देना। आय—अनुरूप ही व्यय करना एवं समय पर भोजन करना। जिस देश में पानी की तंगी हो, नदी न हो एवं गुरु का योग न मिलता हो, वहाँ निवास नहीं करना।

राजा, सर्प, नीच, मंत्री, स्त्री, नदी, लोभी व्यक्ति एवं पूर्व के वैरियों का कभी भी विश्वास नहीं करना। बिना किसी कार्य (प्रयोजन) के स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा नहीं करना। कभी भी असत्य एवं अहितकर वचन नहीं बोलना एवं गुरुजनों से विवाद नहीं करना। माता—पिता एवं गुरु को श्रेष्ठ मानकर उनका मान—सम्मान करना। सत्शास्त्रों का ही श्रवण करना। अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण नहीं करना। ग्रहण करने योग्य का त्याग नहीं करना और जो मारने योग्य नहीं हैं, उनको नहीं मारना। अतिथि, सुपात्र एवं दीन को यथाविधि दान करना एवं दरिद्रों, अंधे व्यक्तियों और आपत्तिग्रस्तों को भी यथाविधि दान देना। हीन अंग वाले

एवं विकलांगो का कभी उपहास नहीं करना। भूख, प्यास, घृणा, क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर भी उन्हें प्रकट नहीं करना। छः शत्रुओं (क्रोध, मान, माया, मद, लोभ, मत्सर) पर विजय प्राप्त करना एवं गुणानुरागी बनना। देशानुरूप लोकाचार का पालन करना। पाप एवं लोकनिंदा का भय रखना। समान आचार वाले तथा समजाति वाले, किन्तु अन्यगौत्र वाले व्यक्तियों के यहाँ विवाह संबंध करना। त्रिवर्ग की सिद्धि इस प्रकार करना कि कोई भी पुरुषार्थ किसी दूसरे को बाधित न करे। दूरदर्शिता, कृतज्ञता एवं लज्जा को अपनाना। अपने और पराए का विवेक रखना। देश, काल आदि का विचार कर कार्य करना। परोपकार करना एवं दूसरों को पीड़ा नहीं देना। अपमान होने पर पराक्रम दिखाना, अन्यथा शान्त रहना। संध्या के समय में, जलाशय में (जलाशय के किनारे), श्मशान में और देवालय में निद्रा, आहार एवं संभोग क्रिया नहीं करना। कुएँ में प्रवेश, कुएँ का उल्लंघन एवं कुएँ के किनारे शयन—इन सब का वर्जन करना। बिना नाव के नदी पार नहीं करना। गुरु के आसन एवं शय्या पर, कुभूमि (खराब स्थान) पर, ताड़पत्र के डंठल पर, दुर्जनों की सभा में एवं जहाँ कुकर्म होते हों, उन स्थानों पर कभी नहीं बैठना। गड्ढे आदि को नहीं लांघना एवं दुष्ट स्वामी की सेवा नहीं करना। चतुर्थी का चंद्रमा, नग्न स्त्री एवं इन्द्रधनुष को नहीं देखना। हाथी, अश्व एवं नख वाले जानवरों एवं निंदक—इनका दूर से ही त्याग करना। दिवस में सहवास नहीं करना एवं रात को वृक्ष के पास नहीं रहना। कलह की स्थिति में कलहकारी के सामीप्य का हमेशा त्याग करना। देशकाल के विरुद्ध, भोजन, आवागमन, भाषण, आय एवं व्यय कभी नहीं करना। ये सभी व्रतादेश उत्तम हैं और चारों वर्णों के लिए समान रूप से आचरणीय हैं।

गृहस्थ गुरु शिष्य को यह व्रतादेश देकर, आगे जाकर जिन—प्रतिमा की प्रदक्षिणा कराए। पुनः पूर्वाभिमुख होकर शक्रस्तव का पाठ करे। उसके बाद गृहस्थ गुरु आसन पर बैठे। “नमोस्तु—नमोस्तु” कहकर शिष्य गुरु के पैरों में गिरकर इस प्रकार कहे— “भगवन्! क्या आपने मुझे व्रतादेश दे दिया है ?” गुरु कहते हैं— “दे दिया है। दिए गए व्रतों को अच्छी तरह से ग्रहण करना। उनकी सुरक्षा करना। संसार सागर से स्वयं पार करना एवं दूसरों को भी पार कराना।”

यह कहकर नमस्कार मंत्र बोलते हुए उठकर दोनों चैत्यवंदन करें। उसके बाद उपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के घर में भिक्षाटन करे।

क्षत्रिय शस्त्र ग्रहण करें एवं वैश्य अन्न का दान करें, यह उपनेय पुरुष का व्रतादेश है।

व्रत-विसर्ग, अर्थात् व्रत-विसर्जन की विधि निम्नानुसार हैं -

ब्राह्मण आठ से सोलह वर्ष तक दण्ड एवं मृगचर्म को धारण कर भिक्षा मांगकर भोजन करते हुए भ्रमण करे - यह उत्तम पक्ष है। क्षत्रिय दण्ड एवं मृगचर्म को धारण कर दस वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक गुरुदेव की सेवा करते हुए तथा स्वयं पकाकर भोजन करते हुए विद्याध्ययन करे। (क्षत्रिय भिक्षावृत्ति से भोजन नहीं करें।)

वैश्य दण्ड एवं मृगचर्म की छाल को धारण करके बारह वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक स्वयं के द्वारा बनाया हुआ भोजन करते हुए विद्याध्ययन हेतु भ्रमण करे - यह उत्तम पक्ष है, परन्तु यदि व्यग्रता के कारण इस प्रकार रहना संभव न हो, तो छः मास तक ही (इस रूप में) रहे, उक्त संभावना के अभाव में एक मास, एक मास के भी अभाव में एक पक्ष, पक्ष के अभाव में तीन दिन और तीन दिनों के भी अभाव में मात्र एक दिन में ही उसे व्रत-विसर्जन कर देना चाहिए।

व्रत विसर्जन विधि इस प्रकार है :-

उपनीत व्यक्ति तीन-तीन प्रदक्षिणा देकर चारों दिशाओं में जिन-प्रतिमा के समक्ष पूर्ववत् आदिदेव के स्तोत्र सहित शक्रस्तव का पाठ करे। उसके बाद आसन पर बैठे हुए गुरु के आगे नमस्कार करके, हाथ जोड़कर इस प्रकार कहे - "भगवन् ! देश-काल आदि की अपेक्षा से व्रत-विसर्जन का आदेश दें।" गुरु कहते हैं - "मैं आदेश देता हूँ।" पुनः प्रणाम करके शिष्य कहता है - "भगवन् ! क्या मुझे व्रत-विसर्जन का आदेश दे दिया गया है ?" गुरु कहते हैं - "हाँ, आदेश दे दिया गया है।"

पुनः प्रणाम करके शिष्य कहता है - "हे भगवन् ! क्या व्रतबंधन का विसर्जन हो गया है ?" गुरु कहते हैं - "जिन-उपवीत धारणरूप व्रत का विसर्जन नहीं होता है, किन्तु कटिमेखला, दण्ड आदि का विसर्जन होता है। जन्म से सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर अध्ययन एवं धर्म-आराधना में लगा रहना चाहिए।" फिर उपनीत पंचपरमेष्ठी मंत्र को बोलते हुए पहले मूँज की कटिमेखला, लंगोटी, वल्कल एवं दण्ड को उतारकर गुरु के आगे स्थापित करें। फिर जिनउपवीतधारी शिष्य श्वेत वस्त्र एवं उत्तरीय वस्त्र धारण करके गुरु के आगे प्रणाम करके बैठे।

उसके बाद गुरु बारह तिलक धारण करने वाले उस शिष्य के सामने उपनयन की व्याख्या करे। वह इस प्रकार से है - आठ वर्ष में ब्राह्मण का, दस वर्ष में क्षत्रिय का और बारह वर्ष में वैश्य का उपनयन हो जाना चाहिए। इसमें गर्भ के मास भी शामिल हैं। जिन-उपवीत शब्द का अर्थ इस प्रकार है :- जिन का उपवीत अर्थात् मुद्रासूत्र। प्राचीन-काल में भी युगादिदेव भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थ-धर्म को धारण करने वाले तीनों वर्णों के लिए अपनी मुद्रा (जिनमुद्रा) का धारण आवश्यक न करके नवब्रह्मगुप्ति से युक्त इस रत्नत्रय का उपदेश दिया था। बाद में तीर्थ का व्यवच्छेद होने पर मिथ्यात्व को प्राप्त ब्राह्मणों ने चारों वेदों में हिंसा का प्ररूपण कर उन्हें मिथ्यापथ पर ले गए। पर्वत एवं वसुराजा के द्वारा हिंसायुक्त यज्ञमार्ग प्रवर्तन होने पर जिनोपवीत का नाम यज्ञोपवीत हो गया। चाहे वे मिथ्यादृष्टि वाले यथेष्ट प्रलाप करते रहे, किन्तु जिनमत में तो वह जिनोपवीत ही धारण करने योग्य है, इसे तुम्हें अच्छी तरह धारण कर लेना चाहिए। प्रतिमास नवीन जिनोपवीत धारण करे। प्रमादवश जिनोपवीत का त्याग हो जाने पर या टूट जाने पर तीन उपवास करके नया उपवीत धारण करे। प्रेतक्रिया में (मृत्यु-क्रिया में) दाएँ कंधे के ऊपर से बाईं कांख के नीचे की तरफ, अर्थात् विपरीत रूप से धारण करें, क्योंकि वह कर्म (प्रेतक्रिया) ही विपरीत है। मुनि भी मृत मुनि के परित्याग के समय उसी प्रकार से विपरीत वस्त्र (उल्टे वस्त्र) धारण करते हैं। तुम जन्म से पहले शूद्र थे। इस समय विशेष संस्कार से ब्रह्मगुप्ति धारण करने के कारण ब्राह्मण, विनाश से प्रजा की रक्षा करने के कारण क्षत्रिय तथा न्यायपूर्वक धनार्जन के कारण वैश्य हुए हो। इसलिए क्रिया सहित इस जिनोपवीत को अच्छी तरह धारण करना, इसकी सुरक्षा करना।

उपनयन की यह विधि तुम्हें अक्षयपद प्रदान करने वाली तथा सत्य धर्म से वासित करने वाली हो। इस प्रकार व्याख्या करके परमेष्ठी-मंत्र का उच्चारण करके दोनों खड़े हो जाएं। फिर चैत्यवन्दन एवं साधुवन्दन करें। यह उपनीत पुरुष के व्रत-विसर्ग (विसर्जन) की विधि है।

गोदान-विधि इस प्रकार है :-

व्रत-विसर्जन के बाद गुरु शिष्य सहित परमात्मा की तीन-तीन प्रदक्षिणा देकर, पूर्ववत् चारों दिशाओं में शक्रस्तव का पाठ करे। उसके बाद गृहस्थ गुरु आसन पर बैठ जाए। तब शिष्य गुरु की तीन प्रदक्षिणा करके, नमस्कार करके, हाथ जोड़कर तथा खड़े होकर गुरु से कहे - "हे

भगवन् ! आपने मुझे तारा है, मेरा निस्तार किया है, मुझको उत्तम बनाया है, मुझे श्रेष्ठ बनाया है, मुझे पवित्र किया है, तो भगवन् आप मुझे प्रमाद की बहुलता वाले गृहस्थ-धर्म में भी किसी सारभूत सुकृत (धर्म/पुण्य) का आदेश दीजिए।" तब गुरु कहते हैं - "वत्स ! तूने अच्छा अनुष्ठान किया, अच्छा प्रश्न किया, तो सुन- दया ही परम धन है, दान ही परम क्रिया है, दान ही परम मार्ग है। इसलिए दान करने में मन लगा, अर्थात् दान देने का मानस बना। अभयदान ही दया है तथा उपकार है। समस्त धर्म-समूह दान में अन्तर्भाव करने योग्य हैं।" ब्रह्मचारी पाठ करने से, अर्थात् अध्ययन करने से, भिक्षु समाधि की साधना से, वानप्रस्थी मनुष्य कष्ट सहन करने से तथा गृहस्थ दान से शुद्ध होता है।" ज्ञानी, परमार्थ के ज्ञाता, अरिहंत परमात्मा, जगत् के ईश्वर (जगदीश्वर) हैं, वे भी व्रत-ग्रहण-काल में विशेष रूप से एक वर्ष तक दान देते हैं। दान ग्रहण करने वाले को पूर्ण प्रसन्नता देता है तथा दाता को अक्षय पुण्य प्रदान करता है, इसलिए दान के समान इस लोक में मोक्ष का कोई दूसरा उपाय नहीं है, तो हे वत्स ! तुम ब्राह्मण, या क्षत्रिय, या वैश्य बन गए हो, (अतः) गृहस्थ धर्म में मोक्ष के सोपान रूप दान-धर्म को प्रारंभ करो।" तब शिष्य प्रणाम करके कहता है - "भगवन् ! मुझे दान की विधि का आदेश दें, अर्थात् बताएं।" गुरु कहते हैं - "मैं आदेश देता हूँ, अर्थात् बताता हूँ, जैसे- "बछिया सहित गाय, भूमि, स्वर्ण, रत्न, पांच प्रकार के वस्त्र, गज और अश्व - ये आठ प्रकार के दान कहे गए हैं। यह आठ प्रकार का दान गृहस्थ एवं ब्राह्मण गुरुओं को देना चाहिए। यति, अर्थात् साधु इन सब को ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि वे निःस्पृह होते हैं, यतियों को भोजन, वस्त्र, पात्र, औषधि एवं पुस्तक का दान देना चाहिए। यति को द्रव्य का दान करने से वे दोनों ही, अर्थात् दाता और दान लेने वाला यति दोनों ही नरक गामी होते हैं। गोदान की विधि का विवरण इस प्रकार है -

उपनीत पुरुष बछिया/बछड़ा सहित भूरी गाय या लाल गाय अथवा उसके अभाव में सफेद गाय को, जिसको स्नान कराया जा चुका है तथा जो सुगन्ध से युक्त व भूषित है, ऐसी उस गाय को सामने लाकर और पूँछ पकड़कर, चांदी से मढ़े हुए खुरोंवाली, सोने से मढ़े हुए सींगो वाली, तांबे की पीठ वाली, कांसे के दोहन-पात्र वाली उस गाय को गुरु को दे। गुरु उस की पूँछ को हाथ में पकड़कर यह वेद मंत्र पढ़े -

“ॐ अहं गौरियं, धेनुरियं, प्रशस्यपशुरियं, सर्वोत्तमक्षीरदधिघृतेयं, पवित्रगोमयमूत्रेयं, सुधास्राविणीयं, रसोद्भाविनीयं, पूज्येयं, हृद्येयं, अभिवाद्येयं, तदत्तेयं त्वया धेनुः कृतपुण्यो भव प्राप्तपुण्यो भव अक्षयं दानमस्तु अहं ॐ ॥”

यह कहकर गृहस्थगुरु गाय को स्वीकार करे। उसके साथ शिष्य उनको द्रोण, अर्थात् माप विशेष के प्रमाणानुसार सात प्रकार का धान्य, तुलामात्र (तराजू के पलड़े के बराबर) षट्स एवं एक व्यक्ति की तृप्ति के योग्य सात विकृतियों का दान करे। यह गोदान है। अन्य सभी, अर्थात् भूमि-रत्नादि के दान का मंत्र यह है -

“ॐ अहं एकमस्ति, दशकमस्ति, शतमस्ति, सहस्रमस्ति, अयुतमस्ति, लक्षमस्ति, प्रयुतमस्ति, कोट्यस्ति, कोटिदशकमस्ति, कोटिशतकमस्ति, कोटिसहस्रमस्ति, कोट्ययुतमस्ति, कोटिलक्षमस्ति, कोटि प्रयुतमस्ति, कोटाकोटिरस्ति, संख्येमस्ति, असंख्येयमस्ति, अनंतमस्ति, अनंतानंतमस्ति, दान फलमस्ति तदक्षयं दानमस्तु ते अहं ॐ ॥”

यह मंत्र पाठ अन्य वस्तुओं के दान के लिए है। यहाँ उपनयन-संस्कार में केवल गोदान का ही विधान है, शेष दान क्रमानुसार किसी अन्य समय दें। गोदान आदि गृहस्थ गुरु एवं विप्रों को ही दें, निःस्पृह यतियों को नहीं।

यति के लिए अन्न-पान (आहार) वस्त्र, पात्र, औषधि तथा रहने के लिए उपाश्रय ही देय है। उनको द्रव्य की अपेक्षा रखने वाला दान नहीं दिया जाता, क्योंकि वे अनासक्त और अपरिग्रही होते हैं। गृहस्थ गुरु उपनीत पुरुष द्वारा दिया गया गोदान ग्रहण करके वर्ण की अनुज्ञा देकर चैत्यवन्दन एवं साधुवन्दन करके उसी प्रकार संघ के एकत्र होने पर, मंगलगीत एवं वाद्यों की ध्वनि का प्रसार होने पर शिष्य को साधुओं की वसति, अर्थात् उपाश्रय में ले जाए। वहाँ पूर्व की भाँति ही मण्डल पूजा, वासक्षेप एवं साधुओं को वन्दन करे। फिर चतुर्विध संघ की पूजा करे तथा मुनियों को आहार, वस्त्र, पात्र आदि का दान करे। यह गोदान-विधि है। इस प्रकार यह चतुर्विध (चारों) वर्णों की उपनयन-विधि संपूर्ण होती है।

शूद्र को उत्तरीय वस्त्र देने की विधि इस प्रकार है -

इसमें सात दिन तक तेल का मर्दन एवं स्नान पूर्ववत् ही करना होता है। उसके बाद पूर्ववत् विधि के अनुसार पौष्टिककर्म करे, फिर पूरे सिर का मुण्डन कराएँ। चौकोर बाजोट रखना तथा जिन-प्रतिमा की स्थापना करना आदि सब कार्य पूर्व की भाँति ही करें। उसके बाद गृहस्थ

गुरु जिनेश्वर की अष्टप्रकारी पूजा करे और चारों दिशाओं में शक्रस्तव का पाठ करे। उसके बाद गुरु आसन पर बैठ जाए। श्वेत वस्त्रों एवं उत्तरासन को धारण किए हुए शिष्य, समवशरण एवं गुरु की प्रदक्षिणा देकर "नमोस्तु-नमोस्तु" कहकर गुरु को प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े होकर गुरु से इस प्रकार कहे -

"भगवन् ! मुझको मनुष्य जन्म, आर्य देश, आर्य कुल की प्राप्ति हुई है। आप मुझको बोधिरूप जिनाज्ञा दें।" गुरु कहते हैं "मैं देता हूँ।" शिष्य पुनः प्रणाम करके कहता है - "मैं उपनयन के योग्य नहीं हूँ, इसलिए जिनाज्ञा दें।" गुरु कहते हैं - "मैं अनुज्ञा देता हूँ।" उसके बाद बारह धागो से बुने हुए सूती या रेशमी, जिन उपवीत के समान ही लम्बाई वाले, उत्तरीय वस्त्र को परमेष्ठी मंत्र का उच्चारण करते हुए, जिन-उपवीत की तरह ही पहनाएं। उसके बाद गुरु पूर्वाभिमुख (बैठे हुए) शिष्य को चैत्यवंदन कराए। तत्पश्चात् शिष्य "नमोस्तु-नमोस्तु" कहकर सुखपूर्वक बैठे हुए गुरु के पैरों में पड़कर पुनः खड़े होकर हाथ जोड़कर इस प्रकार कहे - "भगवन् ! उत्तरीय वस्त्र धारण करवाकर, क्या मुझमें जिनाज्ञा का आरोपण कर दिया गया है ?" गुरु कहते हैं - "तुम सम्यक् प्रकार से जिन-धर्म में आरोपित हो गए हो, भवसागर को पार करो।" उसके बाद गुरु आगे बैठे हुए शिष्य को व्रत की अनुज्ञा दे। वह व्रतानुज्ञा इस प्रकार है - "सम्यक् प्रकार से निर्दिष्ट किए गए बारह व्रत तुम्हें धारण करना चाहिए। तुम्हें कुल का मद नहीं करना चाहिए। तुम्हें जैन साधुओं एवं जैन ब्राह्मणों की उपासना करनी चाहिए। तुम्हें गीतार्थ (ज्ञानियों) के द्वारा निर्दिष्ट तप भी करना चाहिए। कभी किसी पापात्मा की निंदा मत करना और न कभी स्वयं की प्रशंसा करना। तुम्हारे द्वारा ब्राह्मण को अन्नदान न देना हितकारी है।

शेष चारों वर्णों की शिक्षा के लिए बताए गए श्लोकों की व्याख्या के अनुसार तुम्हें आचरण करना चाहिए। उत्तरीय वस्त्र गिरने पर अथवा उसका भंग होने पर उसे उपवीत के समान ही पुनः ग्रहण करें।

"हे शूद्र ! तुम्हें प्रेतकर्म व्रत का आचरण करना चाहिए। यह विधि उत्तरीय (उत्तरासंग) की अनुज्ञा में भी बताई गई है। क्षत्रिय एवं वैश्यों को भी देश-काल आदि के योग से उपवीत का त्याग होने पर उत्तरीय (उत्तरासंग) का प्रयोग करना चाहिए। धर्म कार्य में, गुरु के सामने, देवालय एवं उपाश्रय में तथा प्रेत-कर्म में भी उसे सूत्र के समान धारण

करें।" अन्य कारुओं, अर्थात् शिल्पियों को भी गुरु की अनुज्ञा के बिना गुरु एवं धर्म आदि से संबंधित कार्यों में उत्तरासंग को धारण करना बताया गया है। यह व्याख्या करके गुरु शिष्य को चैत्यवन्दन कराए। परमेष्ठी-मंत्र का उच्चारण एवं उस मंत्र की व्याख्या पूर्व की भांति ही करे। अधम-शूद्रादि "नमो" के स्थान पर "णमो" का उच्चारण करें, यह गुरु परम्परा है। गुरु शिष्य सहित उत्सवपूर्वक अर्थात् धूमधाम से उपाश्रय में जाए। वहाँ मण्डली पूजा, गुरु को वन्दन करना एवं वासक्षेप ग्रहण करना आदि पूर्व की भांति ही करें। उसके बाद मुनियों को अन्न, वस्त्र, पात्र आदि का दान करें और चतुर्विध संघ की पूजा करें। यह उपनयन संस्कार में शूद्रादि के उत्तरीय वस्त्र धारण करने एवं उत्तरासंग धारण करने की अनुज्ञा की विधि है।

बटुक (ब्रह्मचारी) बनाने की विधि का सम्पूर्ण विवरण इस प्रकार से है -

ऐसे ब्राह्मण जो सम्यक् प्रकार से उपनीत हैं, वेद-विद्या का जिन्हें ज्ञान है, जो बुरे दान का ग्रहण नहीं करते, जो शूद्र के अन्न का भोजन नहीं करते, जो जैन ब्राह्मण (माहन) के आचार में रत हैं तथा गृहस्थ के सभी संस्कार एवं प्रतिष्ठा आदि कर्म करते हैं, वे पूजनीय होते हैं। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि राजाओं की सेवा-सुश्रुषा, अर्थात् उनका भोजन पकाना, उनकी आज्ञा के अनुसार अन्य कार्य करना, उनके सत्कारार्थ उठना, चापलूसी करना, प्रशंसा करना, नमस्कार के बिना उन्हें आशीर्वाद देना आदि ज्ञान-कर्म तथा कृषि एवं व्यापार का कार्य, अश्व, बैल आदि को दक्ष बनाना आदि कार्यों के योग्य नहीं होते हैं, अर्थात् उनके लिए ऐसे कार्य करना उचित नहीं हैं।

पूर्व में कहे गए कर्मों में बटुकृत ब्राह्मण (जिनका बटूकरण हो चुका है) लगाने के योग्य होते हैं, अतः उनके बटूकरण की विधि का यहाँ उल्लेख है।

कहाँ भी गया है कि व्रतों से च्युत व्रात्य (संस्कार से रहित ब्राह्मण आदि) नैवेद्य आदि का आहार करने वाले, अनुचित कर्म करने वाले, वेद को न जानने वाले, जप न करने वाले, शस्त्र को धारण करने वाले, असभ्य, कुलहीन, नीचकर्म करने वाले विप्र, मृत्युभोज खाने वाले, चारण एवं बंदीजन, घण्टी बजाने वाले सेवक, गंध एवं तांबूलजीवी, विप्र वेष धारण करने वाले नट, परशुराम वंश के ब्राह्मण, अन्य जाति में जन्मे हुए,

बन्दी बनकर रहने वाले इत्यादि जो विप्र रूप में हैं, उन ब्राह्मणों को बटूकरण बताया गया है। उसकी विधि इस प्रकार है :-

सबसे पहले गृहस्थ गुरु उसके घर में विधि के अनुसार पौष्टिककर्म करे। उसके बाद उस शिष्य को बैठाकर उसका मुण्डन कराए। फिर मंत्रों के द्वारा अभिमंत्रित तीर्थजल से उसको स्नान कराए। तीर्थोदक को अभिमंत्रित करने का मंत्र यह है :-

“ऊँ वं वरुणोऽसि, वारुणमसि, गांगमसि, यामुनमसि, गौदावरमसि, नार्मदमसि, पौष्करमसि, सारस्वतमसि, शातद्रवमसि, वैपाशमसि, सैन्धवमसि, चान्द्रभागमसि, वैतस्तमसि, ऐरावतमसि, कावेरमसि, कारतोयमसि, गौतममसि, शैतमसि, शैतोदमसि, रोहितमसि, रोहिताशमसि, सारेयवमसि, हारिकान्तमसि, हारिसलिलमसि, नारिकान्तमसि, नारकान्तमसि, रौप्यकूलमसि, सौवर्णकूलमसि, सलिलमसि, रक्तवतमसि, नैमग्नसलिलपादममसि, उन्मग्नमसि, पादममसि, महापदममसि, तैंगिच्छमसि, कैशरमसि, पौण्डरीकमसि, ह्रादमसि, नादेयमसि, कौपमसि, सारसमसि, कौण्डमसि, नैर्झरमसि, वापेयमसि, तैर्थमसि, अमृतमसि, जीवनमसि, पवित्रमसि, पावनमसि, तदमु पवित्रय कुलाचार रहितमपि देहिन्।”

इस मंत्र से कुशाग्र द्वारा सात बार अभिसिंचित करे। उसके बाद नदी के तट पर, तीर्थ में, मंदिर में, अथवा पवित्र स्थान में, या घर में, जिसका बटूकरण होना है, उस पुरुष को तिहरी कुश की मेखला बांधे। मेखला बंधन का मंत्र यह है :-

“ऊँ पवित्रोऽसि, प्राचीनोऽसि, नवीनोऽसि, सुगमोऽसि, अजोऽसि, शुद्धजन्मासि, तदमुं देहिन् घृतव्रतमव्रतं वा पावय, पुनीहि अब्राह्मणमपि ब्राह्मणं कुरु।”

यह मंत्र तीन बार पढ़े। उसके बाद उस शिष्य को लंगोटी धारण कराए।

कौपीन (लंगोटी) का मंत्र यह है :-

“ऊँ अब्रह्मचर्यं गुप्तोऽसि, ब्रह्मचर्यधरोऽपि वा। व्रतः कौपीन बन्धनेन ब्रह्मचारी निगद्यते।”

यह मंत्र तीन बार पढ़े। उसके बाद पूर्वानुसार ब्राह्मण के समान उपवीत को मंत्रपाठ पूर्वक लंगोट पहनाए। उसका मंत्र यह है -

“ऊँ सधर्मोऽसि, अधर्मोऽसि, कुलीनोऽसि, अकुलीनोऽसि, सब्रह्मचर्योऽसि, अब्रह्मचर्योऽसि, सुमनाअसि, दुर्मनाअसि, श्रद्धालुरसि,

अश्रद्धालुरसि, आस्तिकोऽसि, नास्तिकोऽसि, आर्हतोऽसि, सौगतोऽसि, नैयायिकोऽसि, वैशेषिकोऽसि, सांख्योऽसि, चार्वाकोऽसि, सलिंगोऽसि, अलिंगोऽसि, तत्त्वज्ञोऽसि, अतत्त्वज्ञोऽसि, तदभव ब्राह्मणोऽमुनोपवीतेन भवन्तु ते सर्वार्थसिद्धयः ।”

इस मंत्र का नौ बार पाठ करके उपवीत को स्थापित करे, अर्थात् धारण कराए। फिर उसके हाथ में पलाश का दण्ड दे, मृग की छाल पहनाए तथा भिक्षाटन कराए। फिर भिक्षा मांगने के पश्चात् उपवीत को छोड़कर मेखला, लंगोटी, जिनदण्ड आदि उतार दे, इन्हें उतारने का मंत्र यह है :-

“ॐ धुरोऽसि, स्थिरोऽसि, तदेकमुपवीतं धारयम् ।।”

यह मंत्र तीन बार पढ़े। उसके बाद गुरु श्वेत वस्त्र के उत्तरासन को धारण किए हुए उस ब्राह्मण को सामने बैठाकर इस प्रकार शिक्षा दे - “परनिंदा, परद्रोह, परस्त्री एवं परधन की इच्छा, मांसाहार और तुच्छ कंद-भक्षण का त्याग करना। वाणिज्य में स्वामी की सेवा करते हुए कभी कपट न करना। ब्राह्मण (वेद) भ्रूण, स्त्री तथा गाय की रक्षा करना और देव, ऋषि एवं गुरु की सेवा करना, अतिथियों का सत्कार करना एवं यथाशक्ति दान देना। अघाती (वध न करने योग्य) का घात मत करना एवं व्यर्थ किसी को परेशान मत करना। आजीवन इस उपवीत को तुम विधिवत् धारण करना। शेष शिक्षा विधि पूर्व में कही गई चारों वर्ण की शिक्षा-विधि के समान है।

उसके बाद वह बटूकृत, गृहस्थ गुरु को स्वर्ण, वस्त्र, गाय, अन्न आदि का दान करे। यहाँ बटूकरण-विधि में - चौकोर वेदिका, समवशरण, चैत्यवंदन, व्रत की अनुज्ञा, विसर्ग, गोदान, वासक्षेप आदि करने का विधान नहीं है। इस प्रकार यह बटूकरण-विधि बताई गई है।

व्रत-बन्धन की विधि में पौष्टिक कर्म के उपकरण, मौंजी, लंगोटी, वल्कल, उपवीत, स्वर्ण-मुद्रा, गाय, संघ का समागम, तीर्थ-जल, वस्त्र, चन्दन, कुशः घास, पंचगव्य, बलिकर्म, चौकोर वेदिका, चतुर्मुख प्रतिमा, पलाश का दण्ड आदि वस्तुओं की आवश्यकता बताई गई है।

इस प्रकार वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में गृहस्थ-धर्म के उपनयन-संस्कार नामक बारहवां उदय समाप्त होता है।

// तेरहवां उदय // विद्यारंभ—संस्कार

विद्यारंभ में अश्विनी, मूल, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपद, पूर्वाफाल्गुनी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, हस्त, शतभिषा, स्वाति, चित्रा, श्रवण एवं धनिष्ठा नक्षत्र तथा बुध, गुरु एवं शुक्रवार, विद्याध्ययन के लिए शुभ माने जाते हैं। रवि और सोमवार मध्यम माने जाते हैं। मंगल एवं शनिवार त्याज्य हैं। प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं रिक्ता अष्टमी एवं नवमी पाठारंभ के सदकार्य में वर्जित हैं। उपनयन के समान ही शुभ दिन एवं शुभ लग्न होने पर विद्यारंभ संस्कार करें। उसकी विधि इस प्रकार है - गृहस्थ गुरु सर्वप्रथम उपनीत पुरुष के घर में पौष्टिककर्म करे। उसके बाद गुरु देवालय में, उपाश्रय में, अथवा कदंब वृक्ष के नीचे स्वयं कुश के आसन पर बैठे। शिष्य को वाम पार्श्व में कुश के आसन पर बैठाए और उसके दाहिने कान को पूजकर तीन बार सारस्वत मंत्र पढ़े।

फिर मनुष्य द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी या अश्व पर बैठाकर मंगल गीत गाते हुए, दान देते हुए, गाजे-बाजे के साथ शिष्य को गृहस्थ गुरु अपने घर, या अन्य उपाध्याय की शाला में, या उपाश्रय में यति गुरु के पास ले जाकर मण्डली-पूजापूर्वक वासक्षेप करवाकर पाठशाला ले जाए। उसके बाद शिष्य गुरु के सम्मुख बैठकर यह शिक्षा श्लोक पढ़े -

“जिन्होंने अज्ञानरूपी अंधकार से अंधे लोगों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन शलाका से खोले हैं, ऐसे गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिनकी कृपा से परम्परा के जानकार लोग शास्त्रों को सम्यक् प्रकार से समझ लेते हैं एवं जो इच्छित अर्थ को देने वाले हैं, उन गुरु-चरणों में मैं नमस्कार करता हूँ।

जिसकी उपस्थिति में दुःख के स्थान पर आनंद प्रदान करने वाली वस्तुएँ दूर होने पर भी समीप में स्थित के समान प्राप्त हो जाती हैं और जिनके अभाव में लोगो का मन कहीं भी स्थिर नहीं हो पाता है, ऐसी श्रद्धा रखने वाले लोगों के अन्यमनस्क होने पर भी सदगुरु की उपासना से कौन सी भलाई नहीं होती है, अर्थात् उनके सर्वार्थ सिद्ध होते हैं।

ऐसी श्रद्धा रखकर हे वत्स ! तुझे तीनों शुद्धियों के द्वारा गुरु की उपासना करनी चाहिए, जिससे वाणी, बुद्धि, यश, धैर्य और लक्ष्मी प्राप्त होती है।”

इस प्रकार शिष्य को शिक्षा देकर उसके द्वारा स्वर्ण एवं वस्त्ररूप दक्षिणा को लेकर गुरु अपने घर जाए।

उसके बाद उपाध्याय सर्वप्रथम मातृका-पद पाठ पढ़ाए, अर्थात् स्वर-व्यंजन का ज्ञान कराए। तत्पश्चात् विप्र को पहले आयुर्वेद, उसके बाद षट् अंग एवं उसके बाद धर्मशास्त्र और पुराण आदि पढ़ाए। क्षत्रियों को भी इसी प्रकार पहले चौदह विद्याएँ, उसके बाद आर्यवेद, धनुर्वेद, दण्ड, नीति और आजीविका का ज्ञान दे।

वैश्यों को धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र के साथ आजीविका शास्त्र का ज्ञान दे। कारुओं को उनके अनुरूप विज्ञानशास्त्र, अर्थात् शिल्पादि का अध्ययन कराए।

उसके पश्चात् साधुओं को चतुर्विध आहार, वस्त्र, पात्र एवं पुस्तक का दान करे।

विद्यारंभ-संस्कार हेतु उसमें सहायक उपकरण, गीत, वाद्य, मंत्र, उपदेश आदि का संग्रह अभीष्ट है।

इस प्रकार आचार्य श्री वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहस्थ-धर्म में विद्यारंभ-संस्कार नामक तेरहवां उदय समाप्त होता है।

// चौदहवां उदय // विवाह-संस्कार

यहाँ इस लोक में जिनका कुल और शील समान हो, उनमें ही परस्पर विवाह सम्बन्ध उचित होता है, क्योंकि शास्त्रो में कहा गया है - "जिनका शील एक समान हो, जिनका कुल एक समान हो, उनमें ही मैत्री एवं विवाह सम्बन्ध करने चाहिए।" उत्कृष्ट या निकृष्ट शील या कुल होने पर मैत्री एवं विवाह सम्बन्ध न करें," क्योंकि समान कुल, समान शील, समान जाति तथा ज्ञात देश, कर्म एवं वंश वाले लोगो में ही विवाह-सम्बन्ध करना उचित है।

जिसका कुल अविकृत है, उसे विकृत कुल की कन्या ग्रहण नहीं करनी चाहिए। विकृत कुल इस प्रकार हैं - "रोमश् (जिसके बड़े-बड़े रोम हो), आर्शस (बवासीर से पीड़ित), ह्रस्व (बौना), दद्रुण (चर्म रोगी), चितकबरा, कुष्ठी, नेत्र तथा उदर रोग वाले तथा बभ्रुवंश वाले (कुल)। इन कुलों में विवाह त्याज्य है, अतः इन कुलों से कन्या का ग्रहण नहीं करना चाहिए। विकृत कन्या इस प्रकार हैं - "अधिक अंगवाली, कम अंगवाली, कपिला (भूरी आंखों वाली), नीली आंखो वाली, भयंकर तथा कटुशब्द कहने वाली। ऐसी कन्या विद्वानों के द्वारा त्याज्य कही गई है। देवर्षि, ग्रह, तारे, अग्नि, नदी, वृक्ष आदि नाम वाली, बहुत रोमों से युक्त, भूरी आंखो वाली एवं जिसका स्वर कर्कश हो, ऐसी कन्या का त्याग करना चाहिए।" कन्यादान हेतु वर के विकृत (अयोग्य) कुल इस प्रकार हैं - "जो कुल हीन एवं क्रूर पत्नी सहित अर्थात् जिसकी पत्नी जीवित हो, जो दरिद्र एवं व्यसनी हो तथा जिनके कुल में कम पुत्र हो, उस कुल का त्याग करना चाहिए। मूर्ख, निर्धन, दूर देश में रहने वाला, शूर अर्थात् योद्धा, मोक्ष का अभिलाषी तथा कन्या से तीन गुणा अधिक आयु वाला - ऐसे वर को कन्या न दें।"

यदि दोनो का कुल अविकृत हो, तो विवाह सम्बन्ध करना उचित है। दोनों का विकृत कुल होने पर पांच शुद्धियों को देखकर ही वर और वधू का विवाह करना चाहिए। पंच शुद्धियाँ इस प्रकार हैं - "राशि, योनि, गण, नाडी एवं वर्ग की शुद्धि देखकर वर-वधू का विवाह सम्बन्ध करना चाहिए" तथा "कुल, शील, सनाथता, विद्या, धन, शरीर एवं आयु आदि सात गुण वर में देखने चाहिए। इससे अधिक तो भाग्य के अधीन है। गर्भ से आठवे वर्ष बाद कन्या का विवाह कर देना चाहिए। ग्यारह वर्ष एवं

उससे ऊपर आयु वाली कन्या रजस्वला होती है, तथा वह कन्या राका कहलाती है। उसका (कन्या का) विवाह शीघ्र कर देना चाहिए। वर मिलने पर चन्द्रबल में तुच्छ महोत्सव होने पर भी लग्न करें।" जैसा कि कहा गया है - "राका कन्या के विवाह में वर्ष, मास, दिन आदि की शुद्धि नहीं देखनी चाहिए। चंद्रबल वाले वर के प्राप्त होने पर विवाह कर देना चाहिए। पुरुष का आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष के बीच में विवाह हो सकता है, पर उसके बाद शुक्राणुरहित होने के कारण वह पुरुष विवाह के योग्य नहीं होता।"

"ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव - इन चार प्रकार के विवाहों में पाणिग्रहण धर्माधारित एवं माता-पिता के वचन के योग से होता है। गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच - ये चार पाप-विवाह स्वेच्छा से होते हैं। ब्राह्म-विवाह की विधि इस प्रकार है :-

शुभ दिन, शुभ लग्न में पूर्व में कहे गए गुण युक्त वर को बुलाकर उसे स्नानपूर्वक अलंकृत करें एवं अलंकृत कन्या दें।

इसका मंत्र इस प्रकार है :-

"ॐ अहं सर्वगुणाय, सर्वविद्याय, सर्वसुखाय, सर्वपूजिताय, सर्वशोभनाय तुभ्यं वस्त्र गन्धमाल्यालंकारालंकृतां कन्यां ददामि, प्रतिगृणीष्व भद्रं भव ते अहं ॐ"

इस मंत्र द्वारा वस्त्रांचल-बन्धन कर दंपति अपने घर जाते हैं। यह ब्राह्म-विवाह धर्माधारित है। प्रजापति-विवाह जगत् प्रसिद्ध हैं, उसका विवेचन आगे विस्तार से किया जाएगा। आर्ष-विवाह में वन में रहने वाले गृहस्थ मुनि अपनी पुत्री को अन्य ऋषि को गाय और बैल के दान के साथ देते हैं। वहां अन्य किसी प्रकार का कोई उत्सव आदि नहीं होता। इस विवाह का वेदमंत्र जैन शास्त्रों में नहीं है, क्योंकि जैन इसे अकृत्य मानते हैं। देव-विवाह में यज्ञादि कर्मों की पूर्ति के लिए पिता पुरोहित को अपनी कन्या दक्षिणावत् देते हैं। यह देव-विवाह धर्मानुकूल है। ये चारों ही विवाह धर्मानुसार हैं। पिता आदि की अनुमति के बिना वर एवं कन्या के परस्पर प्रेम एवं चेष्टायुत विवाह गान्धर्व विवाह हैं। धनादि देकर होने वाला विवाह आसुर-विवाह है। संरक्षक से हठपूर्वक कन्या का ग्रहण करना राक्षस-विवाह है। सुप्त या प्रमत्त कन्या को ग्रहण करना पैशाचिक-विवाह के नाम से विख्यात है।

ज्ञानियों के द्वारा ये चारों ही विवाह स्वेच्छा पर आधारित होने से प्रतिलोम कहे गये हैं। माता-पिता एवं गुर्वाज्ञा रहित - ये चार विवाह पाप-विवाह हैं और ब्राह्म, आर्ष एवं दैव-विवाह दुष्माकाल में नहीं होते। अधर्म होने के कारण चारो पाप विवाहों की वेदों में भी कोई विधि नहीं कही गई है। जैसा कि कहा गया है -

“गोमेध, नरमेध आदि यज्ञ, तीन प्रकार के विवाह, स्वगोत्र की कन्या से विवाह और स्वगोत्र के गुरु कलियुग में नहीं होते।”

अब वर्तमान में प्रचलित प्राजापति-विवाह की विधि का विस्तृत विवरण इस प्रकार है - मूल, अनुराधा, रोहिणी, मघा, मृगशीर्ष, हस्त, रेवती, उत्तरात्रय और स्वाति - इन नक्षत्रों में विवाह करना चाहिए। वेध, एकार्गल, लत्ता, पात एवं उपग्रह संयुक्त नक्षत्रों में तथा युति एवं सूर्य-संक्राति में विवाह कार्य करना उपयुक्त नहीं है। तीन दिन का स्पर्श करने वाली तिथि में, क्रूर तिथि में, दग्धतिथि में, रिक्ता तिथि में, अमावस्या, द्वादशी, अष्टमी, षष्ठी तिथि के होने पर विवाह न करें। भद्रा में, गंडांत में, दुष्ट नक्षत्र, तिथि, वार, योगों में व्यतिपात, वैधृति एवं वर्जित समय में यानि अकाल में, सूर्य के स्थान पर गुरु होने पर एवं गुरु के स्थान पर सूर्य होने पर दीक्षा, विवाह और प्रतिष्ठा आदि प्रमुख कार्य नहीं करने चाहिए। चातुर्मास में, अधिक मास में, गुरु या शुक्र के अस्त होने की स्थिति में, मलमास में और जन्ममास में विवाह न करे। इसी प्रकार मासांत में, संक्रान्ति होने पर तथा उसके दूसरे दिन, ग्रहण वाले दिन तथा उसके बाद एक सप्ताह तक तथा जन्म की तिथि, वार, नक्षत्र तथा लग्न में नहीं करे। पुनः राशि के एवं जन्म-नक्षत्र के स्वामी के अस्तगत होने पर या क्रूर ग्रह द्वारा हत होने पर भी विवाह न करें। जन्मराशि में, जन्मराशि और जन्मलग्न में बारहवें और आठवें घर में और लग्न के अंश के अधिपति छठे और आठवें स्थान में हों, तो लग्न न करें। स्थिर लग्न में, द्विस्वभाव लग्न में या सदगुण करके संयुक्त चर लग्न में, उदयास्त के विशुद्ध होने पर विवाह करें, परंतु उत्पातादिक करके विदूषित लग्न में विवाह न करें। लग्न और सप्तम घर ग्रह से वर्जित हो, तीसरे, छठे और ग्यारहवें घर में रवि, मंगल और शनि हो, छठे और तीसरे घर में तथा पापग्रह वर्जित पाँचवे घर में राहू हो, लग्न में तथा पाँचवे, चौथे, दसवें और नवें घर में बृहस्पति हो, ऐसे ही शुक्र, बुध हो, लग्न छठे, आठवें और बारहवें घर से अन्यत्र पूर्ण (बलवान्) चन्द्रमा हो, तब विवाह करें। क्रूर ग्रहों

से दृष्ट और क्रूर ग्रहों से संयुक्त चन्द्रमा का त्याग करें और अंतस्थ लग्न और चंद्र का भी त्याग करें इत्यादि गुण-संयुक्त, दोष-विवर्जित लग्न में, शुभ अंश में, शुभ ग्रहों की दृष्टि पड़ने पर पाणिग्रहण करना शुभ होता है, इत्यादि। भद्रबाहु, वराह, गर्ग, लल्ल, पृथुयश, श्रीपति के द्वारा प्रतिपादित विवाहशास्त्र के आधार पर, सम्यक् प्रकार से लग्न देखकर विवाह-कार्य आरंभ करें।

कुल की परम्परा तथा देश आदि के रीति-रिवाज को गृहस्थ गुरु द्वारा विशेष रूप से जानें, जैसा कि गर्ग आदि मुनियों द्वारा पूर्व में विवाह-विधि के लिए बताया गया है।

जब सूर्य तीसरे, छठे एवं दसवें स्थान में स्थित हो, चन्द्र तीसरे, छठे, सातवें एवं दसवें स्थान में स्थित हो, गुरु दूसरे, पांचवें, सातवें एवं नवें स्थान में हो, वक्री शनि छठे और तीसरे स्थान में हो, बुध दूसरे, चौथे, छठे, आठवें एवं दसवें स्थान में हो, सभी शुभ ग्रह उपान्त में हो, तो षष्ठम, सप्तम, दशम स्थान में स्थित शुक्र सिंह के समान त्रास (दुःख) देने वाला होता है। स्त्रियों का बृहस्पति बलवान् हो, पुरुषों का सूर्य बलवान् हो और दम्पति का चंद्र बलवान् हो, तो लग्न का शोधन करें।

यहाँ पहले कन्यादान की विधि बताते हैं :-

वर-पक्ष पूर्व में बताए गए अनुरूप कुल एवं शील से युक्त अन्यगोत्र की कन्या की याचना करे, अर्थात् कन्या को मांगे। कन्या-पक्ष भी उसी प्रकार के पूर्व में कहे गए गुणों से युक्त वर को कन्या दे। कन्या के कुल के ज्येष्ठ व्यक्ति द्वारा वर के कुल के ज्येष्ठ व्यक्ति को नारियल, सुपारी, जिन-उपवीत, धान, दूब, हल्दी आदि के दान से अपने-अपने देश एवं कुल-परम्परा के अनुसार कन्यादान करना चाहिए। वहाँ गृहस्थ गुरु वेदमंत्र पढ़े। वह मंत्र इस प्रकार है :-

“ॐ अहं परमसौभाग्याय, परमसुखाय, परमभोगाय, परमधर्माय, परमयशसे, परसन्तानाय भोगोपभोगान्तरायव्यवच्छेदाय, इमाममुकनाम्नीं कन्याममुकगोत्राममुकनाम्ने वराय अमुकगोत्राय ददाति, प्रतिगृहाण अहं ॐ।”

उसके पश्चात् कन्या-पक्ष के लोग सब को ताम्बूल देते हैं। विवाह-काल दूर होने पर तथा वर के पिता के जीवित होने पर कन्या किसी अन्य को न दे, क्योंकि कहा गया है - “राजा लोग एक ही बार बोलते हैं, पण्डित भी एक ही बार बोलते हैं, कन्या भी एक बार दी जाती है - ये तीनों कार्य एक-एक बार ही होते हैं।” वर भी उस कन्या के

लिए वस्त्र, आभरण, गन्ध-प्रसाधन आदि उत्सव सहित कन्या के पिता के घर दे। कन्या का पिता भी वर को उसके परिजनों सहित महोत्सवपूर्वक भोजन प्रदान करे एवं वर को वस्त्र, अंगूठी आदि दे तथा लग्नदिन से पहले मास या पक्ष में सम्मानपूर्वक दोनों पक्ष के परिवारजनों को इकट्ठा करके ज्योतिषी को उत्तम आसन पर बैठाकर उसके हाथ से विवाह-लग्न शुभ भूमि पर लिखवाए। जन्मलग्न की भांति चांदी, सोने की मुद्रा, फल, पुष्प, दूब से विवाह-लग्न की अर्चना करे। फिर दोनों पक्ष के बुजुर्ग ज्योतिषी को वस्त्र, अलंकार एवं पान दें। यह विवाह-आरंभ की क्रिया है।

उसके बाद मिट्टी के करवे में जौ बोएं। कन्या के घर में मातृ-स्थापना एवं षष्ठी माता की स्थापना करें। षष्ठी माता आदि (माताओं) की स्थापना पूर्वोक्त विधि से करें। वर के घर में जिनमतानुसार माता एवं कुलकर की स्थापना करें। अन्य धर्म में गणपति, कन्दर्प की स्थापना करते हैं। गणपति एवं कन्दर्प की स्थापना लोक-प्रसिद्ध एवं सुगम है। कुलकर स्थापना की विधि निम्नानुसार है :-

गृहस्थ गुरु भूमि पर गिरे हुए गोबर से लीपी गई भूमि पर सोने, चांदी, ताम्र अथवा पलाश के काष्ठ से निर्मित पट्ट को स्थापित करे। पट्ट-स्थापन का मंत्र इस प्रकार है :-

“ॐ आधाराय नमः, आधारशक्तये नमः, आसनाय नमः।”

इस मंत्र का एक बार जाप करके पट्ट को स्थापित करे। उस पट्ट को अमृतमंत्र द्वारा तीर्थ-जल से अभिसिंचित करे। उसके बाद चन्दन, अक्षत एवं दूब से पट्ट को पूजे। फिर प्रारंभ में (सबसे पहले) प्रथम स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करें -

“ॐ नमः प्रथमकुलकराय, कांचनवर्णाय, श्यामवर्णचन्द्रयशः-
प्रियतमासहिताय, हाकारमात्रोच्चारव्यापितन्यायपथाय, विमलवाहनाभिधानाय,
इह विवाह महोत्सवादौ आगच्छ- आगच्छ, इह स्थाने तिष्ठ-तिष्ठ,
सन्निहितो भव-भव, क्षेमदो भव-भव, उत्सवदो भव-भव, आनन्ददो
भव-भव, भोगदो भव-भव, कीर्तिदो भव-भव, अपत्यसन्तानदोभव-भव,
स्नेहदो भव-भव, राज्यदोभव-भव, इदमर्ध्यं पाद्यं बलिं चरुं आचमनीयं
गृहाण-गृहाण, सर्वोपचारान् गृहाण-गृहाण । तत् ॐ गन्धं नमः, ॐ पुष्पं
नमः, ॐ धूपं नमः, ॐ दीपं नमः, ॐ उपवीतं नमः, ॐ भूषणं नमः, ॐ नैवेद्यं
नमः, ॐ तांबूल नमः ।”

पूर्व में कहे गये मंत्र से आह्वान, स्थापना एवं संनिधान करके अर्घ्य, खाद्य एवं पेय का दान करें। दूसरे लोग ऊँ कार आदि मंत्रों से दो गन्ध तिलक, दो पुष्प, दो धूप, दो दीप, एक उपवीत, दो नैवेद्य, दो तांबूल चढ़ाएं। फिर द्वितीय स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करें:-

“ऊँ नमो द्वितीय कुलकराय, श्यामवर्णायश्यामवर्णचन्द्रकान्ता-
प्रियतमासहिताय, हाकारमात्रख्यापितन्यायपथाय, चक्षुष्मदभिधानाय, शेष
पूर्ववत्”

फिर तृतीय स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करे -

“ऊँ नमस्तृतीयकुलकराय, श्यामवर्णाय, श्यामवर्णसुरूपाप्रियतमा-
सहिताय, माकारमात्रख्यापितन्यायपथाय, यशस्व्यभिधानाय, शेष पूर्ववत्।”

चतुर्थ स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करे -

“ऊँ नमश्चतुर्थकुलकराय, श्वेतवर्णाय, श्यामवर्णप्रतिरूपाप्रियतमा-
सहिताय, माकारमात्रख्यापितन्यायपथाय, अभिचन्द्राभिधानाय, शेष पूर्ववत्।”

पंचम स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करे -

“ऊँ नमः पंचमकुलकराय, श्यामवर्णाय, श्यामवर्णचक्षुःकान्ताप्रियतमा-
सहिताय, धिक्कारमात्रख्यापितन्यायपथाय, प्रसेनजिदभिधानाय, शेष पूर्ववत्।”

षष्ठ स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करे -

“ऊँ नमः षष्ठ कुलकराय, स्वर्णवर्णाय, श्यामवर्णश्रीकान्ताप्रियतमा-
सहिताय, धिक्कारमात्रख्यापितन्यायपथाय, मरुदेवाभिधानाय, शेष पूर्ववत्।”

सप्तम स्थान में निम्न मंत्र से पूजा करें -

“ऊँ नमः सप्तमकुलकराय कांचनवर्णाय, श्यामवर्णमरुदेवाप्रियतमा-
सहिताय धिक्कारमात्रख्यापितन्यायपथाय नाभ्यभिधानाय, शेष पूर्ववत्।”

यह कुलकर स्थापना की पूजा विधि है। यह कुलकर की स्थापना तथा अन्य धर्म में गणेश एवं कामदेव की स्थापना विवाह के बाद भी सात अहोरात्रि तक रक्षा करने के योग्य है। तत्पश्चात् वर के घर में शान्तिक और पौष्टिक-कर्म करें। कन्या के घर में पहले की तरह ही (पूर्ववत्) माता की पूजा करें। उसके बाद विवाह से पहले सातवें, नवें, ग्यारहवें या तेरहवें दिन वधू और वर अपने-अपने घर में मंगल गीत एवं वाजित्र के वादनपूर्वक तेल का मर्दन कर स्नान करें। विवाह पर्यन्त (होने तक) नित्य वधू और वर इसी रीति से स्नान करें। प्रथम तेल-मर्दन के दिन वर के घर से तेल, सिर की प्रसाधन सामग्री, सुगन्धित वस्तु, द्राक्षा आदि खाद्य-पदार्थ, सूखे फल (मेवे) कन्या के घर भेजें। नगर के सब लोग एवं

वर-वधू के परिजन वर के घर में तथा कन्या के घर में तेल, धान्य आदि लेकर जाएं। वधू एवं वर के घर की वृद्धा नारियाँ धान्य, तेल लाने वाली उन नारियों को पुआ आदि पकवान दें। वहाँ देश-आचार एवं कुलाचार के अनुरूप धारणा आदि कार्य करें। तेलमर्दन, कुलकर, गणेशादि की स्थापना, कंकण बन्धन तथा विवाह की अन्य सभी औपचारिकताएँ वर-वधू के चंद्रबल में एवं विवाह सम्बन्धी नक्षत्र में करें।

धूलिपूजा, करवापूजा (चाकपूजा), सौभाग्यवतियों द्वारा पवित्रजल लाना आदि सभी मंगलकार्य, मंगलगीत-वाद्य सहित देश के आचार एवं कुल के आचार के अनुरूप करें। उसके पश्चात् वर यदि अन्य ग्राम, नगर या देश में हो, तो उसकी वरयात्रा (बारात) कन्या के निवास स्थान की ओर प्रस्थान करे। उसकी यह विधि है -

इन दिनों में प्रथम दिन मातृका-पूजासहित पूर्व में बताए गए लोगों को भोजन प्रदान करें। उसके बाद दूसरे दिन अच्छी तरह से स्नान करके चंदन का लेप लगाकर वस्त्रों एवं गन्ध-माला से सुशोभित तथा सिर पर मुकुट लगाए हुए वर अश्व, गज या मानव-गाड़ी पर आरूढ़ होकर निकले। उसके साथ-साथ सुन्दर वस्त्र धारण करके, प्रमुदित होकर, मुँह में पान चबाते हुए सम्बन्धीजन तथा जाति के लोग अपनी संपत्ति के अनुसार अश्व आदि पर आरूढ़ होकर, या पैदल वर के साथ चलें। वर के दोनों ओर मंगलगान गाती हुई जाति की नारियाँ चलें। उसके आगे ब्राह्मण लोग गृहशान्ति मंत्र पढ़ते हुए चलें, वह मन्त्र इस प्रकार है -

“ऊँ अर्ह आदिमोऽर्हन्, अदिमो नृपः, आदिमो नियन्ता, आदिमो गुरुः, आदिमःस्रष्टा, आदिमःकर्त्ता, आदिमःभर्त्ता, आदिमो जयी, आदिमो नयी, आदिमःशिल्पी, आदिमो विद्वान्, आदिमो जल्पकः, आदिमःशास्ता, आदिमो रौद्रः, आदिमःसौम्यः, आदिमःकाम्यः, आदिमःशरण्यः, आदिमो दाता, आदिमो वन्द्यः, आदिमःस्तुत्यः, आदिमो ज्ञेयः, आदिमो ध्येयः, आदिमो भोक्ता, आदिमः सोढा, आदिमः एकः, आदिमोऽनेकः, आदिमःस्थूलः, आदिमःकर्मवान्, आदिमोऽकर्मा, आदिमो धर्मवित्, आदिमोऽनुष्ठेयः, आदिमोऽनुष्ठाता, आदिमःसहजः, आदिमो दशावान्, आदिमःसकलत्रः, आदिमोविकलत्रः, आदिमो विवोढा, आदिमःख्यापकः, आदिमोज्ञापकः, आदिमो विदुरः, आदिमोकुशलः, आदिमो वैज्ञानिकः, आदिमःसेव्यः, आदिमो गम्यः, आदिमो विमृश्यः, आदिमो विमृष्टा, सुरासुरनरोरगप्रणतः, प्राप्तविमलकेवलो, यो गीयते यत्यवतंसः, सकलप्राणिगणिहितो, दयालुरपरापेक्षः, परात्मा, परं ज्योतिः, परं ब्रह्म,

परमैश्वर्यभाक्, परंपरः परापरोऽपरं परः, जगदुत्तमः, सर्वगः, सर्ववित्, सर्वजित्, सर्वीयः, सर्वप्रशस्यः, सर्ववन्द्यः, सर्वपूज्यः, सर्वात्मा असंसारः, अव्ययः, अवार्यवीर्यः, श्रीसंश्रयः, श्रेयःसंश्रयः, विश्वावश्यायहृत्, संशयहृत्, विश्वसारो, निरंजनो, निर्ममो, निष्कलंको, निष्पाप्मा, निष्पुण्यः, निर्मनाः, निर्वचाः, निर्देहो; निःसशयो, निराधारो, निरवधि, प्रमाणं, प्रमेयं, प्रमाता, जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षप्रकाशकः स एव भगवान् शान्तिं करोतु, तुष्टिं करोतु, पुष्टिं करोतु, ऋद्धिं करोतु, वृद्धिं करोतु, सुखं करोतु, श्रियं करोतु, लक्ष्मीं करोतु, अहं ऊँ ।”

इस प्रकार आर्य वेदमंत्र का पाठ करने वाले ब्राह्मण आगे चलें।

इसके बाद इसी विधि से और महोत्सवपूर्वक चैत्यविधि, गुरुपूजन, मण्डलीपूजन, नगरदेवता आदि का पूजन करें एवं नगर के समीप रहें। तत्पश्चात् उचित मार्ग से जहाँ कन्या के पिता का भवन स्थित है, उस नगर में प्रवेश करें। कन्या के नगर में विवाह के लिए चलने वाले वर की यात्रा की भी यही विधि है। नित्य स्नान के बाद कौसुंभ-सूत्र से शरीर का माप करें। उसके पश्चात् विवाह का दिन आने पर, विवाह लग्न से पूर्व नगरवासी या अन्य देश से आया हुआ वर पूर्व में कही गई विधि से विवाह के लिए निकले। उसकी बहन विशेष रूप से लवण आदि उतारने का (अर्थात् नजर उतारने का) कार्य करती है। उसके बाद वर की बारात गृहस्थ गुरु सहित राजमार्ग (गली) से होकर कन्या के गृह-द्वार पर जाए। वहाँ स्थित वर की सास, अर्थात् कन्या की माता कपूर एवं दीप से वर की आरती उतारे, अर्थात् आरती करे। उसके पश्चात् वर के ससुराल पक्ष की अन्य स्त्री जलते हुए अंगारों एवं लवण से युक्त शराव-संपुट (सीधा एवं उल्टा रखा हुआ मिट्टी का सकोरा), जिसमें तड़-तड़ इस प्रकार की आवाज आ रही हो, को वर के ऊपर उतारकर प्रवेश के वाममार्ग में स्थापित करे। उसके बाद कोई दूसरी स्त्री कौसुंभ-वस्त्र से अलंकृत रई (मथानी) सामने लाए और उससे तीन बार वर के ललाट को स्पर्श करे।

तत्पश्चात् वर वाहन से उतरकर बाएँ पैर से उस अग्नि एवं लवण से युक्त शराव-संपुट को तोड़े। उसके बाद वर की सास, या कन्या की मामी या कन्या का मामा वर के कंठ में उस कौसुंभ-वस्त्र को डालकर खींचते हुए मातृगृह में ले जाए। वहाँ पहले से ही आसन पर बैठी हुई, विभूषित, कौतुक मंगल किए हुए कन्या के वामपार्श्व में मातृदेवी की तरफ मुख करके वर को बैठाएँ। तब गृहस्थ गुरु लग्न-वेला के शुभ मुहूर्त

में चन्दन द्रव्य के साथ पीसी गई शमी एवं पीपल की छाल के मिश्रित लेप को लगाकर वधू और वर के दक्षिण हाथ को मिलाए। उसके ऊपर कौसुभ-सूत्र बांध दे। हस्त-बन्धन का मंत्र निम्न है -

“ॐ अर्ह आत्मासि, जीवोऽसि, समकालोऽसि, समचित्तोऽसि, समकर्मासि, समाश्रयोऽसि, समदेहोऽसि, समक्रियोऽसि, समस्नेहोऽसि, समचेष्टितोऽसि, समभिलाषोऽसि, समेच्छोऽसि, समप्रमोदोऽसि, समविषादोऽसि, समावस्थोऽसि, समनिमित्तोऽसि, समवचा असि, समक्षुत्तृष्णोऽसि, समगमोऽसि, समागमोऽसि, समविहारोऽसि, समविषयोऽसि, समशब्दोऽसि, समरूपोऽसि, समरसोऽसि, समगंधोऽसि, समस्पर्शोऽसि, समेन्द्रियोऽसि, समाश्रवोऽसि, समबन्धोऽसि, समसंवरोऽसि, समनिर्जरोऽसि, सममोक्षोऽसि, तदेहयेकत्वमिदानीं अर्ह ॐ ।”

यह हस्त-बन्धन का मंत्र है। अन्य धर्म, देश या कुल-परम्परा में लग्न करने की बेला में वर को मधुपर्क खिलाना एवं गाय का जोड़ा देना और कन्या को आभरण पहनाना इत्यादि कार्य करते हैं। उसके बाद वधू एवं वर के मातृगृह में प्रवेश कर जाने पर कन्या-पक्ष वाले वेदी की रचना करते हैं। उसकी विधि यह है -

कुछ लोग काष्ठ-स्तंभों से तथा काष्ठ के आच्छादन से युक्त मण्डप के निकट चौकोर वेदी बनाते हैं। कुछ लोग चारो कोनों में एक के ऊपर एक रखे गए छोटे-छोटे सोने, चांदी, ताम्र या मिट्टी के सात-सात कलशों को चारों तरफ चार हरे बांसो से बांधकर वेदी बनाते हैं। चारों ओर वस्त्र या काष्ठ से निर्मित तोरण और वंदनवार बांधते हैं तथा मध्य में त्रिकोण अग्नि-कुण्ड बनाते हैं। वेदी बनाने के बाद पूर्वोक्त वेश को धारण किए हुए गृहस्थ गुरु वेदी की प्रतिष्ठा करता है। उसकी विधि यह है -

सुगन्धित द्रव्य, पुष्प एवं अक्षत हाथों में रखकर निम्न मंत्र बोलें -

“ॐ नमः क्षेत्रदेवतायै शिवायै क्षाँ क्षीँ क्षूँ क्षौँ क्षः इह विवाहमण्डपे आगच्छ-आगच्छ इह बलिपरिभोग्यं गृह-गृह, भोगं देहि, सुखं देहि, यशो देहि, सन्ततिं देहि, वृद्धिं देहि, सर्वसमीहितं देहि देहि स्वाहा।”

यह मंत्र बोलकर चारों ही कोनों में सुगन्धित द्रव्य, पुष्प, अक्षत डालें और इसी प्रकार तोरण की प्रतिष्ठा करें, उसका मंत्र यह है -

“ॐ ह्रीं श्रीं नमो द्वारश्रिये सर्वपूजिते सर्वमानिते सर्वप्रधाने इह तोरणस्थासर्वं समीहितं देहि देहि स्वाहा।”

यह तोरण की प्रतिष्ठा-विधि है। उसके बाद अग्निकुण्ड में, वेदिका के मध्य आग्नेय-कोण में मंत्रपूर्वक अग्नि की स्थापना करें। अग्नि की स्थापना का मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ रं रं रीं रौं रः नमोऽग्नेय, नमोऽबृहद्भानवे, नमोऽनन्ततेजसे, नमोऽनन्तवीर्याय, नमोऽनन्तगुणाय, नमो हिरण्यरेतसे, नमः छागवाहनाय, नमो हव्याशनाय, अत्र कुण्डे आगच्छ-आगच्छ, अवतर-अवतर, तिष्ठ-तिष्ठ स्वाहा।”

अन्य धर्म, देश एवं कुल परम्परा के अनुसार वेदी के अन्दर के भाग में हस्त-लेपन करते हैं। अन्य देश एवं कुल के आचार के अनुसार मधुपर्क खिलाने के बाद, हस्त लेपन से पहले परस्पर आयुध लेकर चलना, कण्ठ में आयुध धारण करना, वधू-वर को घुमाना, नाव चलाना, मणियाँ गूँथना, स्नान, भूजने या तलने का कर्म, (घोड़े आदि की) जीन या काठी कसना तथा कौसुंभ-सूत्र खींचना आदि कार्य करते हैं। उन्हें उस देश विशेष के लोगों द्वारा जानें, व्यवहारिक-शास्त्रों में यह नहीं कहा गया है, किन्तु स्त्रियाँ सौभाग्य प्राप्ति, सपत्नी का अभाव और वर के वशीकरण के लिए इन क्रियाओं को करती हैं। फिर हाथों को मिलाए हुए ही वर और वधू को नर-नारियों की गोद में बैठाकर गीत-वाद्य आदि की ध्वनि सहित दक्षिण-द्वार से प्रवेश करवाकर वेदी के बीच में लाएं। उसके बाद देश एवं कुलाचार के अनुसार काष्ठ या बेंत के आसन, या सिंहासन, अथवा अधोमुखी शरमय खारी के ऊपर वधू एवं वर को पूर्वाभिमुख करके बैठाएं।

हस्तलेप एवं वेदी-कर्म हो जाने पर कुलाचार के अनुसार बिना किनारे सिले हुए वस्त्र, कौसुंभ-वस्त्र या स्वाभाविक वस्त्र वधू और वर को पहनाएं। फिर गृहस्थ गुरु उत्तराभिमुख होकर, मृगछाल के आसन पर बैठे तथा शमी, पीपल, कपित्थ, कुटज, बेल या आंवलो की समिधाओं से अग्नि को प्रज्वलित करके मन्त्रोच्चारण के साथ घी, शहद, तिल, जौ तथा विभिन्न प्रकार के फलों की आहुति दे। वह मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ अर्हं ॐ अग्ने प्रसन्नः सावधानो भव, तवायमवसर, तदाकारयेन्द्रंयम, नैऋति वरुणं वायुं कुबेरमीशानं नागान् ब्रह्माणं लोकपालान्, ग्रहांश्च सूर्य शशि कुज सौम्य वृहस्पति कवि शनि राहु केतुन्सुरांश्चासुरनाग सुपर्णविद्युदग्निद्वीपोदधिदिकुमारान् भवनपतीन् पिशाय भूतयक्ष राक्षस किन्नर किंपुरुष महोरगगन्धर्वान् व्यन्तरान् चन्दार्कग्रह नक्षत्र तारकान् ज्योतिष्कान् सौधर्मेशान श्रीवत्साखंडलपद्मोत्तर ब्रह्मोत्तर

सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलान्तकशुक्रसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतग्रैवेयकानुत्तरभवान्
वैमानिकान् इन्द्रसामानिकान् पार्षद्यत्रयस्त्रिशल्लोकपालानीकप्रकीर्णलोकान्ति-
काभियोगिकभेदभिन्नाश्चतुर्णिकायानपिसभार्यान् सायुधबलवाहनान्
स्वस्वोपलक्षित चिह्नान्, अप्सरसश्च परिगृहीतापरिगृहीताभेदभिन्नाः
समसखिकाः सदासिकाः साभरणारूचकवासिनीर्दिवकुमारिकाश्च सर्वाः,
समुद्रनदीगिर्याकरवनदेवतास्तदेतान् सर्वान् सर्वाश्च इदं अर्घ्यं पाद्यमाचमनीयं
बलिं चरुं हुंत न्यस्तं ग्राह्यग्राह्य, स्वयं गृहाणगृहाण, स्वाहा अर्हं ऊँ ।”

उसके बाद उत्तम आहुतियों से अग्नि को विशेष रूप से प्रज्वलित हो जाने पर गृहस्थ गुरु वहाँ से उठकर वर के दक्षिण पार्श्व में बैठी हुई वधू के समक्ष बैठकर यह कहे -

“ऊँ अर्हं इदमासनमध्यासीनौ स्वाध्यासीनौ स्थितौ सुस्थितौ तदस्तु वां सनातनः संगम अर्हं ऊँ ।”

यह कहकर कुशाग्र द्वारा तीर्थ-जल से उन दोनों को अभिसिंचित करे। उसके बाद वधू के दादा, या पिता, या पितृजन, या भाई, या नाना, या मामा, या कुल-ज्येष्ठ धर्मानुष्ठान करने के लिए उचित वेश पहनकर वर-वधू के सामने बैठे। फिर शान्तिक-पौष्टिक की क्रिया आरंभ करे। विवाह के मास तक मंगलगीत गाने वाले तथा वाद्य-यंत्र बजाने वाले लोगों को भोजन, पान, वस्त्र सामग्री की हमेशा याचना (मांग) रहती है।

उसके बाद गृहस्थ गुरु “ऊँ नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्या-यसर्वसाधुभ्यः”- यह कहकर दूब एवं अक्षत हाथों में भरकर वधू तथा वर के समक्ष इस प्रकार कहे - “तुम दोनों का जो प्रसिद्ध गोत्र है, उसे सम्बन्ध के लिए लोगों के समक्ष प्रकाशित करें।”

तब पहले वरपक्ष के लोग अपने गोत्र, कुल (परिवार), जाति तथा वंश का प्रकाशन करें। उसके बाद पुनः वे वर के मातृपक्ष का (ननिहाल पक्ष का) गोत्र, कुल, जाति तथा वंश को प्रकट करें। उसके बाद कन्यापक्ष के लोग अपने गोत्र, कुल, जाति तथा वंश को प्रकट करें, पुनः वे कन्या के मातृ-पक्ष का (ननिहाल पक्ष का) गोत्र, कुल, जाति एवं वंश प्रकट करें, उसके बाद गृहस्थ गुरु मंत्र द्वारा उन दोनों के सम्बन्ध की जानकारी दें, वह इस प्रकार है -

“ऊँ अर्हं अमुकोऽमुकगोत्रीयः, इयत्प्रवरः, अमुकज्ञातीयः, अमुकान्वयः, अमुकप्रपौत्रः, अमुकपौत्रः, अमुकपुत्रः, अमुकगोत्रीयः, इयत्प्रवरः, अमुकज्ञातीयः, अमुकान्वयः, अमुकप्रदौहितः, अमुकगोत्रीयः, इयत्प्रवरः, अमुकज्ञातीयः,

अमुकान्वयः, अमुकदौहित्रः, अमुकगोत्रीया, इत्यत्रवरा, अमुकज्ञातीया, अमुकान्वय, अमुकप्रपौत्री, अमुकपौत्री, अमुकपुत्री, अमुकगोत्रीया, इत्यत्रवरा, अमुकज्ञातीया, अमुकान्वय, अमुकप्रदौहित्री, अमुकगोत्रीया, इत्यत्रवरा, अमुकज्ञातीया, अमुकान्वया अमुकदौहित्री, अमुकावर्या तदेतयोर्वर्यावरयोर्वर्ययोर्निबिडो, विवाहसम्बन्धोऽस्तु, शान्तिरस्तु, पुष्टिरस्तु, तुष्टिरस्तु, बुद्धिरस्तु, धनसन्तानवृद्धिरस्तु अहं ऊँ ।”

फिर गृहस्थ गुरु वर-वधू से गंध, पुष्प, धूप और नेवैद्य द्वारा वैश्वानर (अग्नि) की पूजा कराए। उसके बाद वधू अंजली भर 'लावे' की अग्नि में आहुति दे। उसके पश्चात् पुनः उसी प्रकार वधू दाहिनी ओर तथा वर के बाँई ओर बैठे। इसके बाद गृहस्थ गुरु निम्न वेदमंत्र पढ़े :-

“ऊँ अहं अनादि विश्वमनादिरात्मा, अनादिः, कालोऽनादिकर्म, अनादिः सम्बन्धो देहिनां देहानुमतानुगतानां क्रोधाहंकारच्छदमलोभैः संज्वलनप्रत्याख्यानावरणानन्तानुबन्धिभिः शब्द रूपरसगन्धस्पर्शरिच्छानिच्छा-परिसंकलितैः सम्बन्धोनुबंधः प्रतिबन्धः संयोगः सुगमः सुकृतः सुनिवृत्तः सुतुष्टः सुपुष्टः सुलब्धो द्रव्यभावविशेषेण अहं ऊँ ।”

यह वेदमंत्र पढ़कर पुनः इस प्रकार कहे - “तो अमुक नामधारी आप दोनों का सम्बन्ध, सिद्ध, केवली, चतुर्निकायदेव, विवाह की प्रधान अग्नि, नर, नारी, राजा, जन, गुरु, माता-पिता, मातापक्ष (ननिहाल), पितापक्ष एवं जाति कुल तथा बन्धुओं को प्रत्यक्ष हो, अर्थात् ये सब इसके साक्षी हों। यह सम्बन्ध सुकृत अच्छी तरह अनुष्ठित, सुप्राप्त तथा सुसंगत है, अतः आप दोनों तेजपुंज अग्निदेव की प्रदक्षिणा करें।” यह कहकर उसी प्रकार अंजली-ग्रन्थि से बद्ध वधू एवं वर वैश्वानर (अग्नि) की प्रदक्षिणा करें। प्रदक्षिणा देकर पूर्व की भाँति बैठें। तीन लाजाओ की तीन प्रदक्षिणाओं में वधू को आगे और वर को पीछे रखें। दाहिनी ओर वधू को एवं बाई ओर वर को बैठाएं। यह प्रथम लाजाकर्म है। उन दोनों के आसन पर बैठ जाने के बाद गृहस्थगुरु निम्न वेद मंत्र का पाठ करें :-

“ऊँ अहं कर्मास्ति, मोहनीयमस्ति, दीर्घस्थितिरस्ति, निर्बडमस्ति, दुश्छेद्यमस्ति, अष्टाविंशति प्रकृतिरस्ति, क्रोधोऽस्ति, मानोऽस्ति, मायास्ति, लोभोऽस्ति, संज्वलनोऽस्ति, प्रत्याख्यानावरणोऽस्ति, अप्रत्याख्यानावरणोऽस्ति, अनन्तानुबन्ध्यस्ति, चतुश्चतुर्विधोऽस्ति, हास्यमस्ति, रतिरस्ति, अरतिरस्ति, भयमस्ति, जुगुप्सास्ति, शोकोऽस्ति, पुंवेदोऽस्ति, स्त्रीवेदोऽस्ति,

नपुंसकवेदोऽस्ति, मिथ्यात्वमस्ति, मिश्रमस्ति, सम्यक्त्वमस्ति, सप्ततिकोटाकोटिसागरस्थितिरस्ति अहं ऊँ ।”

इस वेदमंत्र को पढ़कर पुनः इस प्रकार कहे —“आप दोनों का प्रगाढ़ एवं सघन बंधन मोहनीय कर्मों के उदय के कारण हुआ, यह बन्धन स्नेहयुक्त, सुकृतयुक्त, सुनिष्ठित, सुसंबद्ध तथा संसार की स्थिति पर्यन्त अक्षय रहे, (अतः) आप दोनों अग्नि की प्रदक्षिणा करें।” पुनः पूर्ववत् अग्नि की प्रदक्षिणा कराए — यह द्वितीय लाजाकर्म है। चारों ही लाजाकर्मों में प्रदक्षिणा के प्रारंभ होने पर वधू मुट्टी भर ‘लावों’ की अग्नि में आहुति दे। उसके बाद उन दोनों के उसी प्रकार बैठने पर गृहीगुरु यह वेदमंत्र पढ़े—

“ऊँ अहं कर्मास्ति, वेदनीयमस्ति, सातमस्ति, असातमस्ति, सुवेद्यं सातं दुर्वेद्यमसातं, सुवर्गणाश्रवणं सातं दुर्वर्गणा श्रमणमसातं, शुभपुद्गलदर्शनं सातं, दुष्पुद्गलदर्शनमसातं, शुभषड्रसास्वादनं सातं, अशुभषड्रसास्वादनमसातं, शुभगन्धाघ्राणं सातं अशुभगन्धाघ्राणमसातं शुभपुद्गलस्पर्शः सातं अशुभपुद्गलस्पर्शाऽसातं, सर्वं सुखकृत्सातं सर्वदुःखकृ दसातं, अहं ऊँ ।”

यह वेदमंत्र पढ़कर इस प्रकार कहे —“आप दोनों को सातावेदनीय कर्म हो, असातावेदनीय न हो, इसलिए अग्नि की प्रदक्षिणा करें। इस प्रकार अग्नि की प्रदक्षिणा देकर वधू एवं वर उसी प्रकार बैठ जाएँ — यह तीसरा लाजाकर्म है। फिर गृहस्थ गुरु यह वेदमंत्र पढ़े —

“ऊँ अहं सहजोऽस्ति, स्वभावोऽस्ति, संबन्धोऽस्ति, प्रतिबद्धोऽस्ति, मोहनीयमस्ति, वेदनीयमस्ति, नामास्ति, गोत्रमस्ति, आयुरस्ति, हेतुरस्ति, आश्रवबद्धमस्ति, क्रियाबद्धमस्ति, कायबद्धमस्ति तदस्ति सांसारिकः सम्बन्धः अहं ऊँ ।”

इस वेदमंत्र को पढ़कर कन्या के पिता, चाचा, ताऊ, भाई या कुल-ज्येष्ठ के हाथों में तिल, जौ, दाभ, दूब एवं जल भरकर इस प्रकार कहे —“आज अमुक वर्ष में, अमुक आयन में, अमुक ऋतु में, अमुक मास में, अमुक पक्ष में, अमुक तिथि में, अमुक वार, अमुक नक्षत्र में, अमुक योग में, अमुक करण में एवं अमुक मुहूर्त में पूर्वकर्म से अनुबद्ध, वस्त्र गन्धमाला से अलंकृत, सोने, चांदी तथा मणियों के आभूषणों से भूषित इस दान का ग्रहण करें।” यह कहकर वर और वधू के जुड़े हुए हाथों के मध्य इस जल को छिड़के, या डाले। वर कहता है —“मैं ग्रहण करता हूँ, यह मेरे द्वारा ग्रहण कर ली गई है।” गुरु कहता है —“भली भांति ग्रहण की गई

हो, शान्तिप्रद हो, पुष्टिप्रद हो, ऋद्धिप्रद हो, वृद्धिप्रद हो तथा धन सन्तान की वृद्धि हो।" पूर्व के तीन लाजाकर्म में वर के हाथ के ऊपर कन्या का हाथ होता है। (अब) कन्या का हाथ नीचे करे और वर का हाथ ऊपर रखे। उसके बाद वर और वधू को आसन से उठाकर वर को आगे करे तथा वधू को पीछे करे। उसके बाद मुट्ठी भर लावे की अग्नि में आहुति देकर गृहीगुरु इस प्रकार कहे - "अग्नि की प्रदक्षिणा करें।"

जब वर और वधू अग्नि की प्रदक्षिणा कर रहे हों, तब कन्या के पिता तथा कुल-ज्येष्ठ आदि वर और वधू को दी जाने वाली सभी वस्तुएँ, वस्त्र, आभरण, सोना, चांदी, तांबा, कांस्य, भूमि, मूल्य (मुद्रा), हाथी, घोड़ा, दासी, गाय, बैल, पलंग, रूई का गद्दा, दीप, शास्त्र, पुस्तक, पकाने के लिए बर्तन आदि को वेदी के पास ले आएँ।

उसके अन्य बन्धु, सम्बन्धी, मित्र आदि भी अपनी सम्पत्ति के अनुसार पूर्वोक्त वस्तुएँ वेदी के पास ले आएँ। फिर प्रदक्षिणा के अन्त में वर और वधू उसी प्रकार आसन पर बैठें। चतुर्थ लाजाकर्म के पश्चात् वर को दाहिनी और वधू को बाईं ओर बैठाएँ। उसके बाद गृहस्थ गुरु, कुश, दूब, अक्षत एवं सुगन्धित गन्ध अपने हाथों में रखकर इस प्रकार कहे - "जिस अनुष्ठान के द्वारा शक्र आदि ने करोड़ों संसारी जीवों को व्यवहार-मार्ग बताने के लिए ऋषभदेव का सुनंदा एवं सुमंगला से विवाह किया था, ज्ञात या अज्ञात वह अनुष्ठान अनुष्ठित हो, अर्थात् सम्पूर्ण हो।" इस प्रकार कहकर (गृहीगुरु) वास (सुगन्धित गन्ध), दूब, अक्षत, एवं कुश को वर-वधू के मस्तक पर डाले। फिर गृहस्थ गुरु के द्वारा आदिष्ट वधू को पिता जल, जौ, तिल एवं कुश को हाथ में ग्रहण करके, वर के हाथ में देकर इस प्रकार कहे - "मैं मांगलिक उपहार देता हूँ, ग्रहण करो।" वर कहता है - "मैं ग्रहण करता हूँ, मैंने ग्रहण कर लिया और धारण कर लिया है।" गुरु कहते हैं - "सुग्रहीत हो, सुपरिग्रहीत हो।"

- पुनः उसी प्रकार वस्त्र, आभूषण, हाथी, देय वस्तुएँ वर को प्रदान करते समय भी वधू का पिता एवं वर ये वाक्य कहकर यह विधि करे। फिर सब वस्तुएँ देने पर गुरु इस प्रकार कहे - "वधू और वर आप दोनों सघन, प्रगाढ़, अपरिवर्तनीय, अघाती, अपायरहित, अशिथिल, अवश्य भोगने योग्य पूर्व-कर्मों के सम्बन्ध से विवाह में प्रतिबद्ध हुए हैं। यह विवाह अखण्डित, अक्षय, अव्यय, निरपाय, निव्याबाध हो, सुखद हो, शान्तिप्रद हो, पुष्टिप्रद हो, ऋद्धिप्रद हो, वृद्धिप्रद हो, धन-सन्तान की वृद्धि कारक हो।"

इस प्रकार कहकर तीर्थोदक से कुशाग्र द्वारा वर-वधु को अभिसिंचित करे। पुनः गुरु उसी प्रकार वधू एवं वर को उठाकर मातृगृह में ले जाए। वहाँ ले जाकर वधू एवं वर से इस प्रकार कहे - "आप दोनों का विवाह-कार्य सम्पूर्ण हुआ। हे वत्स ! तुम दोनों स्नेह, भोग, आयुष्य एवं धर्म सहित होओ। दुःख-सुख में, शत्रु-मित्र में, गुण-दोष में, मन-वचन एवं काया में, आचार में तथा गुणों में सम (एकरूप) बनो।

फिर कन्या का पिता गुरु से कर-मोचन करने के लिए कहता है। गुरु इस वेदमंत्र का पाठ करे -

"ॐ अर्हं जीवत्वं कर्मणा बद्धः, ज्ञानावरणेन बद्धः, दर्शनावरणेन बद्धः, वेदनीयेन बद्धः, मोहनीयेन बद्धः, आयुषा बद्धो, नाम्ना बद्धो, गोत्रेण बद्धः, अन्तरायेण बद्धः, प्रकृत्या बद्धः, स्थित्या बद्धः, रसेन बद्धः, प्रदेशेन बद्धः तदस्तु ते मोक्षो गुणस्थानारोहक्रमेण अर्हं ॐ।"

यह वेदमंत्र पढ़कर पुनः इस प्रकार कहे - "हाथों के मुक्त होने पर भी आप दोनों का स्नेह संबंध अखण्डित रहे।" यह कहकर करमोचन करे। कन्या का पिता कर-मोचन उत्सव पर जमाई द्वारा प्रार्थित, या अपनी संपत्ति के अनुरूप बहुत सी वस्तुएँ दे। उसकी दान-विधि पूर्व में कहे गए अनुरूप ही करे। अब मातृगृह से उठकर वे दोनों पुनः वेदी गृह में आएँ। फिर आसन पर बैठे हुए गृहस्थगुरु उन दोनों से इस प्रकार कहे - "पहले युगादि भगवान् ने जिस विधि से विश्व के कार्यों का सम्पादन करने के लिए दो स्त्रियों से विवाह किया था, उसी विधि से यह युगल अच्छी तरह काम-भोगरूप फलवाला हो।

इस प्रकार कहकर पूर्वोक्त विधि से अंचल-मोचन करके, "हे वत्स ! तुम दोनों विषय सुख को प्राप्त करो"-ऐसा कहे। इस प्रकार गुरु की अनुज्ञा को प्राप्त कर वर-वधू अनेक विलासिनियों से घिरे हुए श्रृंगारगृह में प्रवेश करें। वहाँ पहले से स्थापित कामदेव की कुलवृद्धाओं के कथनानुसार पूजा करें। फिर वधू एवं वर दोनों साथ-साथ खीर मिश्रित अन्न का भोजन करें। इसके बाद यथाविधि सुरत का आचरण करें, अर्थात् संभोग करें।

फिर जिस प्रकार आए थे, उसी प्रकार उत्सव सहित अपने घर जाएँ। फिर वर के माता-पिता वधू एवं वर की आरती, न्यौछावर आदि मंगल-विधि को अपने देश एवं कुलाचार के अनुरूप करें। कंकण-बन्धन, कंकण-मोचन, द्यूतक्रीड़ा (चौपड़), वेणी बांधना आदि सभी कर्म भी उस

देश एवं कुल के आचार के अनुरूप ही करें। विवाह से पूर्व वधू एवं वर - दोनों पक्ष भोजन का दान दें। उसके तुरंत बाद धूलिभक्त, जन्यभक्त आदि देश कुलाचार के अनुरूप करें। फिर एक सप्ताह के पश्चात् वर-वधू का विसर्जन (विदा) करें। उसकी यह विधि है -

सात दिन तक विविध प्रकार की भक्ति से पूजित जमाता का पूर्ववत् अंचल-बन्धन करें। उनके वस्तुएँ प्रदान करते हुए उसी आडंबर सहित अपने घर पहुँचाएँ। फिर सात रात्रि, एकमासी, छः मासी या वार्षिक महोत्सव अपने कुल, संपत्ति, देश एवं आचार के अनुरूप करें। सात रात्रियों के पश्चात्, या एक मास के पश्चात् कुलाचार के अनुरूप कन्या पक्ष में मातृका-विसर्जन पूर्वोक्त रीति से करें।

कन्या-पक्ष में गणपति, कामदेव आदि के विसर्जन की विधि तो लोक-विख्यात है। वर पक्ष में कुलकर के विसर्जन की विधि इस प्रकार है-

कुलकर-स्थापना के पश्चात् प्रतिदिन कुलकर की पूजा करें। विसर्जन-काल में कुलकरों को पूजकर गृहस्थ गुरु पूर्ववत् "ॐ अमुक कुलकराय", इत्यादि सम्पूर्ण मंत्र को पढ़कर "पुनरागमनाय स्वाहा"- इस प्रकार कहकर सभी कुलकरों को विसर्जित करें।

"ॐ आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मंत्रहीनं च यत्कृतम्। तत्सर्वं कृपया देव क्षमस्व परमेश्वर।"

यह कुलकर-विसर्जन की विधि है। फिर मण्डली-पूजा, गुरु-पूजा, वासक्षेप आदि क्रिया सब पूर्व की भांति ही करें। साधुओं को वस्त्र, पात्र का दान करें। ज्ञान-पूजा करें। विप्रों को एवं दूसरे याचको को अपनी संपत्ति के अनुसार दान दें।

अन्य देश, कुल एवं धर्म में विवाह के लग्न प्राप्त होने पर तथा वर के श्वसुर-गृह में प्रविष्ट होने पर षट् आचार किए जाते हैं।

पहले आंगन में आसन का दान करें। श्वसुर कहता है - "आसन ग्रहण करो" वर कहता है - "मैं ग्रहण करता हूँ।" यह कहकर आसन पर बैठता है। फिर श्वसुर वर के पैरों का प्रक्षालन करे। पश्चात् अर्घ्य का दान करे - दही, चंदन, अक्षत, दूब, कुश, पुष्प, श्वेत सरसों एवं जल के द्वारा श्वसुर जमाई को अर्घ्य देता है। फिर आचमन कराए और उसके बाद गन्ध, अक्षत से पूजा एवं तिलक करने के पश्चात् मधुपर्क आहार कराए। इस प्रकार आसन-प्रदान, पाद-पूजन, अर्घ्य, आचमन, गन्ध एवं मधुपर्क सहित छः आचार हैं।

उसके पश्चात् घर के अन्दर वधू एवं वर - दोनों के बीच दृष्टि-संयोग, अर्थात् देखना, परस्पर दोनों के नाम ग्रहण करना आदि पूर्ववत् अनुसार ही करे। यह देश कुलाचार के अनुसार विवाह की अन्य विधि है। यह अपनी संपत्ति एवं सम्बन्धित पक्षों के अनुसार करनी चाहिए। मूलशास्त्रों को देखकर यह विधि बताई गई है। अपने देश एवं कुल के अन्य आचारों की जानकारी महात्माओं (सज्जनों) से प्राप्त करें। वर-कार्य एवं रात्रि में माता एवं कुल-देवी की पूजा अपने-अपने वंश की जो विधि है, उसके अनुरूप करें। वेदी की स्थापना एवं मण्डप-निर्माण का कार्य विधि के ज्ञाता कुल-वृद्ध आदि के कथनानुसार करें। विवाह के प्रारम्भ में कंकण-बंधन आदि कुल के अनुरूप करें तथा विवाह के अन्त में उसे खोलने का कार्य वृद्धों के वचनानुसार करें। ऊन का, सूत का, रेशमी या अन्यमत (धर्म) में मूँज का कंकण कुल की रीति के अनुसार कहा गया है। कुछ लोग मातृगृह में दंपत्ति का कर-बंधन करने के लिए कहते हैं, तो अन्य लोग मधुपर्कप्राशन के पश्चात् आसन पर बैठे हुए वर-वधू का कर-बंधन करने के लिए कहते हैं। अग्नि की प्रदक्षिणा के समय वधू अपने पैर से सिलबट्टे का स्पर्श करें, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, किन्तु कुछ लोग इसे नहीं मानते। कुछ लोग वर-कन्या का समागम होने पर अंचल को खींचने से ही विवाह होना मानते हैं। देश के आचार के अन्तर्गत विवाह के अन्त में महिलाएँ परस्पर गायन के द्वारा उपहास करती हैं, इसे देश, कुल आदि से जानें। पिता और माता के वचन से वर-कन्या का जो संयोग होता है, उसे धर्म-विवाह मानना चाहिए, चाहे उसकी विधि कुछ भी रही हो। कुछ लोग बहुत आडंबर से और बहुत द्रव्य (प्रचुर द्रव्य) का व्यय करके माता-पिता की आज्ञा के बिना विवाह करते हैं, उसे पाप विवाह समझना चाहिए। यहाँ मध्य में जो कुछ कहा गया है, वह शास्त्र में कही गई परम विधि है, तथापि देश, वंश और व्यवहार के अनुसार अन्य विधि भी अपनाई जा सकती है।

वैश्या-विवाह-विधि :-

अब सभी कामुकजनों की कामना करने वाली वेश्या के विवाह की विधि का उल्लेख करते हैं। वह इस प्रकार है - पूर्व में कहे गए अनुसार विवाह के शुद्ध लग्न में अविवाहित, चतुर, स्नान, लेप एवं अलंकारों से युक्त, कौतुक मंगल से युक्त, वेश्याजनों (वेश्याओं) से घिरी हुई, जिसके समीप में बहुत से गीत एवं वाद्य बज रहे हों (ऐसी उस) वेश्या को गृहस्थ

गुरु कामदेव के भवन में स्थापित कामदेव की प्रतिमा के समीप जाए। फिर उसके दोनों हाथों को कौसुंभ-सूत्र से कामदेव की प्रतिमा के हाथों के साथ बाँध दें। उसके बाद पंचबाण-मंत्र को 108 बार पढ़कर कुशाग्र से निकले हुए गन्धोदक से, अर्थात् कुशाग्र के द्वारा गन्धोदक से उसको अभिसिंचित करे। उसके बाद गृहस्थ गुरु वेदमंत्र पढ़ते हुए, वैश्या से उस प्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा कराए। मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ अर्ह कामोऽसि, अभिलाषोऽसि, चित्तजन्मासि, संकल्पजन्मासि, काम्योऽसि, सेव्योऽसि, प्रियोऽसि, मान्योऽसि, शब्दोऽसि, रूपोऽसि, रसोऽसि, गन्धोऽसि, स्पर्शोऽसि, सर्वगोऽसि, सर्वव्यापकोऽसि, सर्वार्थोऽसि, आनन्ददोऽसि, ऊह्योऽसि, मदनोऽसि, मथनोऽसि, उन्मादनोऽसि, मोहनोऽसि, तापनोऽसि, शोषणोऽसि, मारणोऽसि, विकृतिऽसि, अजेयोऽसि, दुर्जयोऽसि, प्रभुरसि, नमस्ते अर्ह ॐ।”

यह मंत्र पढ़कर तीन प्रदक्षिणा देने के बाद यह कहे - “हे भगवन्! आपको नमस्कार है, आप इसके सौभाग्य को ग्रहण करें, बेटी ! तुम इनके द्वारा ब्याही गई हो, जहाँ-जहाँ इन भगवान् का हृदय में निवास है, वहाँ-वहाँ इच्छा को पूर्ण करना।” यह कहकर उसको एक रात कामदेव के समीप रखे। उसके बाद स्वेच्छापूर्वक चल पड़े। यह वेश्या का विवाह है।

सज्जनों को वैवाहिक नक्षत्रों में ही तेल का अभिषेक तथा विवाह-सम्बन्धी वस्तुओं का संग्रह प्रारम्भ करना चाहिए।

इन सबके अतिरिक्त विवाह हेतु वाद्य-यंत्र, नारियाँ, कुलवृद्धाएँ, दोनों के स्वजनों की सहमति, मण्डप-निर्माण, मातृका-पूजा, कुलकरों की अर्चना, वेदी-निर्माण, तोरण, अर्घ्य आदि की वस्तुएँ, शान्तिक-पौष्टिक कर्म की वस्तुएँ, विविध भोजन-सामग्री, कौसुंभ (पीला/केसरिया) सूत्र एवं वस्त्र, ऋद्धि-वृद्धि सूचक जौ आदि का वपन, गुरु के लिए वस्त्र एवं आभूषण और वर को देने के लिए गाय आदि, भोजन पकाने के बर्तन, दान के लिए शक्ति के अनुरूप धन तथा अन्य सभी आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करें।

इस प्रकार वर्धमानसूरिविरचित आचारदिनकर में गृहस्थधर्म के विवाह-स्कार नामक यह चौदहवाँ उदय समाप्त होता है।

// पन्द्रहवां उदय // व्रतारोपण-संस्कार-विधि

इस लोक में गर्भ से लेकर विवाह तक के चौदह संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति भी व्रतारोपण-संस्कार के बिना इस जन्म में लक्ष्मी के सदुपयोग, प्रशंसा और कल्याण का पात्र नहीं बन पाता है और न परलोक में, या अन्य जन्म में आर्य-देश, मनुष्य-जन्म, स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख आदि को प्राप्त करता है। अतः मनुष्यों के लिए व्रतारोपण-संस्कार परम कल्याणरूप है। जैसा कि आगम में कहा गया है - "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र - कोई भी हो, सभी धर्म साधना से ही मोक्ष के योग्य होते हैं।" "सर्वकलाओं में प्रवीण जो मनुष्य धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे बहत्तर कलाओं में कुशल एवं विवेकशील होने पर भी (वास्तव में) कुशल नहीं हैं।" अन्य सिद्धांत में भी कहा गया है कि धर्माचरण के बिना उपनीत, पूज्य तथा कलावान् मनुष्य भी न तो इस लोक में और न परलोक में सुख को प्राप्त कर पाता है। अतः यहाँ सभी संस्कारों में प्रधानभूत व्रतारोपण-संस्कार का विवेचन किया गया है, उसकी विधि यह है -

पूर्व में उल्लेख किए गए विवाह तक के संस्कार गृहस्थ गुरु या जैन ब्राह्मण, या क्षुल्लकों द्वारा करवाए जाते हैं, किन्तु व्रतारोपण-संस्कार निर्ग्रन्थ यति द्वारा ही करवाया जाता है। निर्ग्रन्थ गुरु की खोज (चयन) इस प्रकार करें -

"पांच महाव्रतों से युक्त, पांच प्रकार के आचारों का पालन करने में समर्थ, पाँच समिति, तीन गुप्ति से युक्त तथा छत्तीस गुणों वाला पुरुष ही निर्ग्रन्थ गुरु होता है। जो रूपवान् (श्रेष्ठ चरित्रवाला), युगप्रधान, आगम का ज्ञाता, मधुर वक्ता, गंभीर, बुद्धिमान और सन्मार्ग हेतु उपदेश देने वाला हो, ऐसा निर्ग्रन्थ साधु ही आचार्य, अर्थात् गुरुपद का अधिकारी होता है। अपरिस्रावी, सौम्य, संग्रहशील एवं विनयशील, स्वप्रशंसा से रहित, चंचलता से रहित और प्रसन्न चित्तवाला निर्ग्रन्थ (साधु) ही गुरु पद के योग्य होता है। कितने ही तीर्थंकर अजरामर पद का पंथ अर्थात् मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन कर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, परन्तु संप्रति (वर्तमान काल में तो) में तो जिन प्रवचन का आधार आचार्य ही हैं। प्रकारांतर से आचार्य गुरु के गुण इस प्रकार है -

वह आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणविनय और दोषपरिधात विनय से युक्त होता है।" पुनः गुरु के छत्तीस गुण बताए गए हैं - "सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनके प्रत्येक के आठ-आठ भेद हैं तथा तप के बारह भेद हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्य के छत्तीस गुण बताए गए हैं। अन्य अपेक्षा से निम्न छत्तीस गुण भी कहे गये हैं - 1. संविग्न् (भवभीरु) 2. मध्यस्थ-तटस्थ 3. सज्जन 4. मृदु 5. ज्ञाता 6. पंडित 7. भली-भांति संतुष्ट 8. गीतार्थ 9. कृतयोगी 10. भावों को जानने वाला 11. लब्धि सम्पन्न 12. उपदेश देने वाला 13. आदेश देने वाला 14. मतिमान् 15. विज्ञाता 16. विग्रह न करने वाला 17. नैमित्तिक 18. बलवान् 19. उपकारी 20. दृढधारणा वाला 21. दूरदर्शी 22. नयनिपुण 23. प्रिय बोलने वाला 24. गंभीर स्वरवाला 25. तप में निरत 26. सुन्दर शरीर वाला 27. श्रेष्ठ प्रतिभा से सम्पन्न 28. त्यागी 29. आनंद प्रदाता 30. पवित्र (वाग्मी) 31. गंभीर 32. अनुवर्ती 33. शरणागत-वत्सल 34. स्थिर चित्तवाला 35. धीर और 36. उचित- अनुचित का ज्ञाता (विवेकशील) - आचार्य के ये छत्तीस गुण कहे गए हैं।"

पितृ-परम्परा से माने गए इस प्रकार के गुरु को, या उसके अभाव में इन गुणों से युक्त अन्य गुरु के प्राप्त होने पर ही गृहस्थ को व्रतारोपण की विधि करनी चाहिए। जो गृहस्थ पूर्व कथित इन चौदह संस्कारों से सुसंस्कृत हैं, वही गृहस्थ-धर्म के योग्य हैं। आगम में कहा गया है कि, धर्म-रत्न के योग्य श्रावक - 1 अशूद्र 2. रूपवान् 3. प्रकृति- सौम्य 4. लोकप्रिय 5. अक्रूर 6. पापभीरु 7. अशठ 8. दाक्षिण्यवान् 9. लज्जालु 10. दयालु 11. मध्यस्थ 12. सौम्यदृष्टि 13. गुणानुरागी 14. सत्कथी और सुपक्षयुक्त 15. सुदीर्घदर्शी 16. विशेषज्ञ 17. वृद्धानुयायी 18. विनीत 19. कृतज्ञ 20. परहितार्थकारी (परोपकारी) 21. लब्ध-लक्ष्य - इन इक्कीस गुणों से युक्त होता है। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने श्रावक के निम्न 35 मार्गानुसारी गुण बताए हैं :-

"न्याय से पैसा प्राप्त करना। उत्तम आचार वाले की प्रशंसा करना। भिन्न गोत्र वाले तथा जिनके कुल एवं आचार समान हैं; उनके साथ विवाह करना। पाप से भय रखना। देशप्रसिद्ध आचार के अनुसार आचरण करना। किसी का अवर्णवाद नहीं बोलना और उसमें भी राजा के अवर्णवाद का विशेष रूप से त्याग करना। जो न अधिक खुला हुआ हो और न ही अधिक बंद (अंधेरे से युक्त) हो, ऐसे घर में अच्छे पड़ोसियों के

साथ निवास करना। मकान में से बाहर निकलने एवं प्रवेश करने के अनेक द्वार नहीं हो। उसे सदाचारी की संगति और माता-पिता की भक्ति करनी चाहिए। उपद्रव वाले स्थान को त्याग देना चाहिए, अर्थात् वह स्थान छोड़कर अन्य जगह जाकर रहना चाहिए। निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। आय के अनुसार व्यय करना चाहिए। अपनी सम्पत्ति के अनुसार वस्त्राभूषण आदि पहनना चाहिए। बुद्धि के आठ गुणों को विकसित करना चाहिए। निरंतर धर्म सुनने जाना चाहिए। अजीर्ण हुआ हो, तो भोजन नहीं करना चाहिए। समय पर शांत-चित्त से भोजन करना चाहिए। धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन वर्गों का परस्पर विरोध-रहित सेवन करना चाहिए। अतिथि, साधु और दीन व्यक्ति की यथायोग्य भक्ति करनी चाहिए। कभी भी अनुचित कदाग्रह नहीं रखना चाहिए। गुणवान् पुरुषों के गुण के विषय में आग्रह रखना चाहिए। निषेध किए हुए देश में या निषेध किये गये काल में, गमन नहीं करना चाहिए। स्वयं की शक्ति या निर्बलता को जानना चाहिए। व्रत को धारण करने वाले, ज्ञान से या उम्र से वृद्ध व्यक्तियों का योग्यता के अनुसार आदर सत्कार करना चाहिए। पोषण करने योग्य का पोषण करे और दीर्घ दृष्टिवान् होना चाहिए। विशेषज्ञ, लोक को वल्लभ, लज्जावान्, दयावान्, सौम्य प्रकृतिवाला, परोपकार करने में तत्पर, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष - इन छः अभ्यन्तर शत्रुओं को परिहार करने में प्रयत्नशील और इन्द्रियों के समूह को वश में करने वाला मनुष्य गृहस्थ धर्म के योग्य होता है।”

इस प्रकार के पुरुष का व्रतारोपण करना चाहिए। इस संस्कार में गुरु शिष्य के संवाद (कथन) प्रायः प्राकृत भाषा में हैं, क्योंकि गर्भाधान से लेकर विवाह तक के सारे संस्कारों में प्रायः गुरु के ही वचन हैं, शिष्य के वचन नहीं हैं। प्रायः गुरु शास्त्रज्ञ एवं संस्कृत बोलने वाले होते हैं, अतः इन संस्कारों में संस्कृत भाषा का प्रयोग मुख्य रूप से हुआ है। यहाँ व्रतारोपण संस्कार में बालक, स्त्री एवं शिष्यों के वचन भी क्षमाक्षमण के प्रति हैं। संस्कृत भाषा में उच्चारण करने में असमर्थ होने के कारण वे प्राकृत में बोलते हैं। उनके साथ-साथ उन्हें समझाने के लिए गुरु भी प्राकृत में बोलते हैं, अर्थात् गुरु के कथन भी प्राकृत में होते हैं। जैसा कि आगम में कहा गया है -

“दृष्टिवाद को छोड़कर कालिक एवं उत्कालिक अंग-सिद्धांतों को जिनवरों ने स्त्री एवं बालक आदि के बोध के लिए प्राकृत में कहा है।”

“सम्यक् चरित्र की आकांक्षा रखने वाले बालक, स्त्री, वृद्ध एवं अज्ञ मनुष्यों के उच्चारण के लिए तत्त्वज्ञों ने प्राकृत को आधार बनाया है।”

दृष्टिवाद बारहवां अंग है, उसके 1. परिकर्म 2. सूत्र 3. पूर्वानुयोग 4. पूर्वगत 5. चूलिका - ये पाँच विभाग संस्कृत में हैं। इसे बाल, स्त्री एवं अज्ञजनों को नहीं पढ़ना चाहिए। इसे संसार पारगामी तत्त्वज्ञ, विद्वानों एवं गीतार्थों द्वारा ही पढ़ा जाना चाहिए। कालिक एवं उत्कालिक आगम ग्रन्थ बाल, साधु, साध्वी, व्रतियों एवं योग को धारण करने वालों द्वारा पढ़े जाने चाहिए, इसलिए अर्हत् भगवानों ने इनकी रचना प्राकृत भाषा में की है और इसलिए व्रतारोपण-संस्कार को उसे ग्रहण करने वाले बाल, स्त्री एवं सामान्य गृहस्थों के लिए एवं यतियों के हितार्थ प्राकृत भाषा में कहा गया है।

“मृदु, ध्रुव एवं क्षिप्र संज्ञक नक्षत्र तथा मंगलवार एवं शनिवार को छोड़कर शेष वार तप की नंदी, आलोचनाप एवं प्रथम भिक्षाचर्या आदि हेतु शुभ कहे गए हैं। वर्ष, मास, दिन, नक्षत्र, लग्न शुद्ध होने पर विवाह, दीक्षा, प्रतिष्ठा के समान ही शुभ लग्न में गृहस्थ गुरु उसके घर में शान्तिक-पौष्टिक कर्म करे। पुनः देवालय में, उपाश्रय में, शुभ आश्रम में, या अन्यत्र, समवशरण की रचना कर उसमें परमात्मा की प्रतिमा स्थापित करे। फिर स्नान से पवित्र होकर अपने घर से महोत्सवपूर्वक उपाश्रय में आकर वह श्रावक श्वेत कटिवस्त्र और श्वेत उत्तरीय धारण करे तत्पश्चात् हाथ में मुहँपति लेकर, कसे हुए जूड़े वाला वह श्रावक ललाट पर चंदन का तिलक करके तथा अपने वर्ण के अनुसार जिन उपवीत, उत्तरीयवस्त्र या उत्तरासंग को धारण करके पूर्वाभिमुख गुरु की बाईं ओर बैठे। उसे इस प्रकार बैठाकर गुरु यह कहे - “सम्यक्त्व को प्राप्त करके जो उसे छोड़ देते हैं, वे नरक और तिर्यच योनि का द्वार खोलते हैं एवं मनुष्य भव तथा मोक्ष सुख को कम करते हैं, अर्थात् उनसे दूर हो जाते हैं।”

उसके बाद श्रावक गुरु की आज्ञा से नारियल, अक्षत और सुपारी को हाथ में रखकर परमेष्ठी-मंत्र का उच्चारण करते हुए समवशरण की तीन प्रदक्षिणा दे। फिर गुरु के पास आकर गुरु एवं श्रावक-दोनों ईर्यापथिकी की क्रिया करे, अर्थात् गमनागमन में लगने वाले दोषों की आलोचना करे। फिर आसन पर विराजित गुरु के सामने श्रावक इस प्रकार कहें-“हे क्षमाशील गुरु महाराज अपनी शक्ति के अनुरूप सर्व सांसारिक कार्यों का निषेध करके आपके आवृत्त (सीमाक्षेत्र) में आकर

मस्तक झुकाकर वंदन करना चाहता हूँ। हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे सम्यक्त्व-आरोपण एवं नंदी-क्रिया करने के लिए वासक्षेप प्रदान करें।" फिर गुरु वासक्षेप को सूरिमंत्र या गणिविद्या के द्वारा अभिमंत्रित करके परमेष्ठी एवं कामधेनु की मुद्रा बनाकर पूर्वाभिमुख खड़े होकर उसे वाम पार्श्व में स्थित श्रावक के सिर पर डाले। उसके मस्तक पर हाथ रखकर गणधर-विद्या के द्वारा रक्षा करे। उसके बाद गुरु पुनः आसन पर बैठे हैं। श्रावक पूर्व की भांति समवशरण की प्रदक्षिणा करके गुरु के आगे खमासमणा सूत्र से वंदन कर कहे -

"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय के आरोपण-रूप चैत्यवंदन कराये" उसके पश्चात् गुरु एवं शिष्य दोनों वर्धमान की चार स्तुतियों के द्वारा चैत्यवंदन करें। वर्धमान-स्तुतियाँ जैन-शास्त्र में निबद्ध चरम जिनेश्वर वर्धमान स्वामी की स्तुतिरूप हैं। फिर चौथी स्तुति कहकर अन्त में श्री शान्तिनाथ भगवान् की आराधना हेतु "मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।" ऐसा कहकर वंदनवक्तियाँ सूत्र एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करें) सूत्र के लिए परिशिष्ट देखें। सत्ताईस श्वास-उच्छ्वास में चतुर्विंशति-स्तव का चिन्तन करें। फिर "अरिहंतो को नमस्कार हों।"- इस प्रकार कहकर द्वारा कायोत्सर्ग पूर्ण करे। तत्पश्चात् "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्य" कहकर निम्न स्तुति बोलें -

"श्रीमते शान्तिनाथाय नमः शान्ति विधायिने ।

त्रैलोक्यस्यामराधीश मुकुटाभ्यर्चितांघ्रये ॥

शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान् शान्तिं दिशतु मे गुरुः ।

शान्तिरेव सदा तेषां येषां शान्तिर्गृहे गृहे ॥"

पुनः श्रुतदेवता की आराधना हेतु "मैं कायोत्सर्ग करता हूँ"- ऐसा कहकर तथा 'अन्नत्थसूत्र' बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में परमेष्ठी (नवकार) मंत्र का ही चिन्तन करें। उसके बाद 'नमो अरिहंताणं' से कायोत्सर्ग पूर्णकर "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्य" कहकर निम्न स्तुति बोलें -

"सुअदेवया भगवई नाणावरणीकम्मसंघायं ।

तेसिं खवेउ सययं जेसिं सुअसायरे भत्ती ॥" अथवा

"श्वसितसुरभिगन्धाल्लब्धभृंगीकुरगं मुखशशिनमजस्रं बिभ्रती या बिभर्ति । विकचकमलमुच्चैः सास्त्वचिन्त्यप्रभावा सकलसुखविधात्री प्राणभाजां श्रुतांगी ॥"

पुनः क्षेत्र—देवता की आराधना हेतु “मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”— ऐसा कहकर तथा ‘अन्नत्थसूत्र’ बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में एक नवकार का चिंतन करें। उसके बाद ‘नमो अरिहंताणं’ कहकर कायोत्सर्ग पूर्ण करे एवं “नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यं” कहकर निम्न स्तुति बोलें —

“यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य साधुभिः साध्यते क्रिया ।

सा क्षेत्रदेवता नित्यं भूयान्नः सुखदायिनी ॥”

पुनः भुवनदेवता के आराधन हेतु “मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”— यह कहकर एवं ‘अन्नत्थसूत्र’ बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में एक बार नवकारमंत्र का स्मरण करें। उसके बाद “नमो अरिहंताणं” कहकर कायोत्सर्ग पूर्ण करें एवं “नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपा- ध्यायसर्वसाधुभ्यं” कहकर निम्न स्तुति बोलें —

“ज्ञानादिगुणयुतानां नित्यं स्वाध्यायसंयमरतानाम् ।

विदधातु भुवन देवी शिवं सदा सर्वसाधूनाम् ॥”

फिर शासन—देवता के आराधन हेतु “मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”— यह कहकर एवं ‘अन्नत्थसूत्र’ बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में एक बार नवकारमंत्र का स्मरण करें। फिर “अरिहंतो को नमस्कार हो” इस प्रकार कहकर कायोत्सर्ग पूर्ण करे। तत्पश्चात् “नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्या- यसर्वसाधुभ्यं” कहकर निम्न स्तुति बोलें —

“या पाति शासनं जैनं सद्यः प्रत्यूहनाशिनी ।

सामिप्रेत समृद्धयर्थं भूयाच्छासन देवता ॥”

समस्त “वैयावृत्य करने वालों के आराधन हेतु “मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”— ऐसा कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में एक नवकार मंत्र का स्मरण करें। कायोत्सर्ग पूर्ण कर “नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यं” कहकर निम्न स्तुति बोलें—

“ये ते जिनवचनरता वैयावृत्योद्यताशय ये नित्यम् ।

ते सर्वे शान्तिकरा भवन्तु सर्वाण्युयक्षाद्याः ॥”

‘नमो अरिहंताणं’ बोलकर बैठें एवं “नमुत्थुणं” सहित “जांवति चेइआई” सूत्र एवं “अर्हणादिस्तोत्र” पढ़ें। अर्हणस्तोत्र इस प्रकार है :-

“अरिहाणं नमो पूअं अरहंताणं रहस्सरहियाणं । पयओ परमिद्धीणं अरहंताणं धुअरयाणं ॥११॥ निदृढअट्टकम्मिधणाणं वरनाणदंसणधराणं । मुत्ताण नमो सिद्धाणं परमपरिमिद्धभूयाणं ॥१२॥ आयाधराण नमो

पंचविहायारसुद्धियाणं च । नाणीणायरियाणं आयारूवएसयाण सया ॥3॥
 बारसविहं अपूवं दिन्ताण सुअं नमो सुयहराणं । सययमुवज्जायाणं
 सज्जायज्जाणजुत्ताणं ॥4॥ सव्वेसिं साहूणं नमो तिगुत्ताण सव्वलोएवि ।
 तवनियमनाणदंसणजुत्ताणं बंभयारीणं ॥5॥ एसो परमिद्धीणं पंचन्हवि
 भावओ नमुक्कारो । सव्वस्स कीरमाणो पावस्स पणासणो होई ॥6॥ भुवनेवि
 मंगलाणं मणुयासुरअमरखयरमहियाणं । सव्वेसिमिमो पढमो होइ महामंगलं
 पढमं ॥7॥ चत्तारि मंगलं में हुंतु अरहा तहेव सिद्धा य । साहूअ सव्वकालं
 धम्मो अ तिलोअमंगल्लो ॥8॥ चत्तारि चेव ससुरासुरस्स लोगस्स उत्तमा
 हुंति । अरिहंतसिद्धसाहूधम्मो जिणदेसियमुयारो ॥9॥ चत्तारिवि अरहंते
 सिद्धे साहूतहेव धम्मं च । संसारघोररक्खसभएण सरणं पवज्जामि ॥10॥
 अह अरहओ भगवओ महइमहावद्धमाणसामिस्स । पणयसुरेसरसेहरवियलि-
 अकुसुमुच्चयकम्मस्स ॥11॥ जस्स वरधम्मचक्कं दिणयरबिंबव्व भासुरच्छायं ।
 तैएण पज्जलंतं गच्छइ पुरओ जिणंदस्स ॥12॥ आयासं पायालं सयलं
 महिमंडलं पयासंतं । मिच्छत्तमोहतिमिरं हरेइ तिण्हंपि लोआणं ॥13॥
 सयलंमिवि जिअलोए चिंतिअमित्तो करेइ सत्ताणं । रक्खं
 रक्खसडाइणिपिसायगहभूअजक्खाणं ॥14॥ लहइ विवाए वाए ववहारे
 भावओ सरंतो अ । जूए रणे अ रायंगणे अ विजयं विसुद्धप्पा ॥15॥
 पच्चूसपओसेसुं सययं भव्वो जणो सुहज्जाणो । एअं झाएमाणो मुख्खं पइ
 साहगो होइ ॥16॥ वेआलरूद्धदाणवनरिदकोहडि- रेवईणं च । सव्वेसिं
 सत्ताणं पुरिसो अपराजिओ होइ ॥17॥ विज्जुव्व पज्जलंती सव्वेसुवि
 अक्खरेसु मत्ताओ । पंच नमुक्कारपए इक्किक्के उवरिमा जाव ॥18॥
 ससिधवलसलिलनिम्मल- आयारसहं च वन्नियं बिंदुं । जोयणसयप्पमाणं
 जालासयसहस्सदिप्पंतं ॥19॥ सोलससु अक्खरेसु इक्किक्कं अक्खरं
 जगुज्जोअं । भवसयसहस्समहणो जंमि ठिओ पंचनवक्कारो ॥20॥ जो थुणई
 हु इक्कमणो भविओ भावेण पंचनवक्कारं । सो गच्छइ सिवलोअं उज्जोअंतो
 दसदिसाओ ॥21॥ तवनियमसंयमरहो पंचनमोक्कारसारहिनिउत्तो ।
 नाणतुरंगमजुत्तो नेइ फुडं परमनिव्वाणं ॥22॥ सुद्धप्पा सुद्धमणा पंचसु
 समिईसु संजयतिगुतो । जे तम्मि रहे लग्गा सिग्घं गच्छंति सिवलोअं ॥23॥
 थंभेइ जलजलणं चित्तिअमित्तोवि पंच नवक्कारो । अरिमारिचोरराउल-
 घोरूवसग्गं पणासेई ॥24॥ अट्टेवयंअट्टसयं अट्टसहस्सं च अट्टकोडीओ ।
 रक्खंतु मे सरीरं देवासुरपणमिआ सिद्धा ॥25॥ नमो अरहंताणं
 तिलोअपुज्जो अ संथुओ भयवं । अमरनररायमहिओ अणाइनिहणो सिवं

दिसओ ॥ 126 ॥ निह्वविअह्वकम्मो सिवसुहभूओ निरंजणो सिद्धो ।
 अमरनररायमहिओ अणाइनिहणो सिवं दिसओ ॥ 127 ॥ सव्वे
 पओसमच्छरआहिअहिअया पणासमुवयंति । दुगुणीकयधणुसदं सोओपि
 महाधणु सहस्सं ॥ 128 ॥ इय तिहुअणप्पमाणं सोलसपत्तं जलंतदित्तसरं ।
 अट्टारअद्धवलयं पंचनमुक्कारचक्कमिणं ॥ 129 ॥ सयलुज्जोइअभुवणं निद्दाविअसे-
 ससत्तुसंघायं । नासिअमिच्छत्ततमं वियलिअमोहं गयतमोहं ॥ 130 ॥ एयस्स य
 मज्झत्थो सम्मदिट्ठीवि सुद्धचारिती । नाणी पवयणभत्तो गुरुजणसुस्सू-
 सणापरमो ॥ 131 ॥ जो पंचनमुक्कारं परमोपुरिसो पराइभत्तीए । परियत्तेइ
 पइदिणं पयओ सुद्धप्पओगप्पा ॥ 132 ॥ अट्टेवय अट्टसया अट्टसहस्सं च
 उभयकालंपि । अट्टेवयकोडीओ सो तइअभवे लहइ सिद्धिं ॥ 133 ॥ एसो परमो
 मंतो परमरहस्सं परंपरं तत्तं । नाणं परमं णेअं सुद्धं ज्ञाणं परइजेयं ॥ 134 ॥
 एवं कवयमभेयं खाइयमत्थं परा भुवणरक्खा । जोईसुन्नं बिन्दुं नाओ
 तारालवो मत्ता ॥ 135 ॥ सोलसपरमक्खरबीअबिंदुगप्पो जगुत्तमो जोओ ।
 सुअबारसंगसायरमहत्थपुवत्थपरमत्थो ॥ 136 ॥ नासेइ चोरसावयविसहरजल-
 जलणबंधणसयाइं । चिंतिज्जंतो रक्खसरणरायभयाइं भावेणं ॥ 137 ॥”

अर्हणादि स्तोत्र पढ़कर “जयवीररायजगगुरु” इत्यादि गाथाएँ बोलें।
 आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं साधुओं को वन्दन करें। यह शक्रस्तव की
 विधि गुरु एवं श्रावक— दोनों करें। चैत्यवन्दन के बाद श्रावक खमासमणा
 देकर कहता है —“हे भगवन् ! मैं सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक,
 देशविरति सामायिक आरोपण एवं नंदी—क्रिया करने के लिए कायोत्सर्ग
 करूँ ?” गुरु कहते हैं — “करो।” फिर श्रावक सम्यक्त्वत्रय के आरोपण
 हेतु “मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”— ऐसा कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर
 कायोत्सर्ग करे। इस कायोत्सर्ग में सत्ताईस श्वासोश्वास प्रमाण
 चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करें। पश्चात् अरिहंतो को नमस्कार द्वारा
 कायोत्सर्ग पूर्ण कर चतुर्विंशतिस्तव बोले। उसके बाद मुँहपत्ति प्रतिलेखन
 करके द्वादश आवर्त सहित वन्दन करे। पुनः खमासमणा देकर कहे — “हे
 भगवन् ! मुझे सम्यक्त्वादि त्रिक का आरोपण कराएं।” गुरु कहते हैं —
 “मैं आरोपण करता हूँ।” उसके बाद श्रावक गुरु के आगे खड़े होकर,
 अंजलि बांधकर मुखवस्त्रिका से मुख को आच्छादित करके तीन बार
 परमेष्ठी—मंत्र का उच्चारण करे, फिर सम्यक्त्व दंडक का उच्चारण करे,
 जिसका भावार्थ इस प्रकार है —

“हे भगवन् ! आज मैं आपके सान्निध्य में मिथ्यात्व का (प्रतिक्रमण कर) त्याग करता हूँ एवं सम्यक्त्व को प्राप्त करता हूँ। वह चार प्रकार का है - द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव। द्रव्य से मिथ्याकृत्य का त्याग करता हूँ एवं सम्यक्त्व को धारण करता हूँ। आज से मेरे लिए अन्य तैर्थिक, अन्य तैर्थिकों के देव या अन्य तैर्थिकों द्वारा ग्रहीत अर्हत चैत्य मेरे द्वारा वंदनीय एवं नमस्कार करने के योग्य नहीं हैं। उन अन्य तैर्थिकों के साथ सम्भाषण करना, उनको बुलाना, उनके साथ संलाप करना व उनको अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम देना, या प्रदान करना मेरे लिए योग्य नहीं है। क्षेत्र से यहाँ, अर्थात् मनुष्य क्षेत्र में या अन्यत्र, काल से जीवन पर्यन्त एवं भाव से जब तक ग्रहों से ग्रसित न होऊँ, जब तक छल से छला न जाऊँ, जब तक सन्निपात न हो, या इसी प्रकार के किन्हीं अन्य परिणामों का परिवर्द्धन न हो, तब तक एवं जब तक राजाभियोग, बलाभियोग, गणाभियोग, देवाभियोग या गुरु द्वारा निग्रहित न हो, तब तक उपर्युक्त वृत्तियों का मैं त्याग करता हूँ।”

यह दण्डक सूत्र तीन बार बोलें ।

पाठान्तर से अन्य लोग इस दण्डक का भी उच्चारण करते हैं -

“हे भगवन् ! आज मैं आपके सान्निध्य में मिथ्या का (प्रतिक्रमण) त्याग करता हूँ एवं सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूँ। आज से मैं अन्य तैर्थिक, अन्य तैर्थिकों के देव, या अन्य तैर्थिकों द्वारा ग्रहीत अर्हत चैत्य को वंदन-नमस्कार नहीं करूंगा। साथ ही उनके साथ सम्भाषण करने, या उन्हें बुलाने, या उनसे संलाप करने का त्याग करता हूँ। उनको अशन, पान, खादिम, स्वादिम नहीं दूंगा, अर्थात् प्रदान नहीं करूंगा। अन्यत्र राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग, देवाभियोग, या गुरु द्वारा निग्रहित, अर्थात् गुरु के आदेश के अतिरिक्त मिथ्यात्व सम्बन्धी क्रियाओं का चतुर्विध रूप से, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से त्याग करता हूँ। द्रव्य से दर्शन-व्रत को अंगीकार करता हूँ एवं मिथ्यात्व का त्याग करता हूँ। क्षेत्र से ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं तिर्यग्लोक में, काल से जीवन पर्यन्त, भाव से जब तक ग्रहों से ग्रसित न होऊँ, जब तक छल से छला न जाऊँ, जब तक सन्निपात आदि रोगों के कारण चित्तवृत्ति विचलित न हों, तब तक मैं इस दर्शन-व्रत का आचरण करूंगा।”

गुरु-परम्परा से बोला जाने वाला यह द्वितीय दण्डक या पूर्वकथित दण्डक - इन दोनों में से किसी एक दण्डक का तीन बार उच्चारण करें।

इस प्रकार मिथ्यात्व से निवृत्त होकर एवं सम्यक्त्व को प्राप्त करके गुरु के समक्ष कहें "निःसंग अरिहंत ही मेरे देव हैं, सुसाधु गुरु हैं और दाक्षिण्य, अर्थात् अहिंसा ही धर्म है।"

गुरु तीन बार यह गाथा पढ़कर श्रावक के मस्तक पर वासक्षेप डाले। फिर गुरु आसन पर बैठकर सूरिमंत्र, या गणिविद्या के द्वारा गन्ध, अक्षत एवं वासक्षेप को अभिमंत्रित करे। उस गन्ध, अक्षत एवं वासक्षेप को हाथ में लेकर परमात्मा की प्रतिमा के पैरों का स्पर्श करे और फिर उसे साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका को दे है। वें उसे अपनी मुट्ठी में, अर्थात् हाथ में रखें। उसके बाद श्रावक आसन पर विराजित गुरु के आगे खमासमणा देकर कहे - "हे भगवन् ! आप मुझे सम्यक्त्व आदि सामायिक का आरोपण कराएं।" तब गुरु कहे "मैं आरोपण करता हूँ।" पुनः श्रावक खमासमणा देकर कहे - "मैं क्या बोलूँ (पढ़ूँ) मुझे आज्ञा दीजिए ?" गुरु कहे - "वंदन करके प्रवेदित करो।" पुनः श्रावक खमासमणा देकर कहे - "हे भगवन् ! आपने मुझमें तीनों सामायिक का आरोपण कर दिया है ?" गुरु कहे - "आरोपण कर दिया है, गुरु परम्परा से प्राप्त सूत्र, अर्थ तथा सूत्र व अर्थ - दोनों से गुरु के गुणों का वर्धन करते हुए संसार-सागर को पार करने वाले बनों।

पुनः श्रावक "मैं गुरु-आज्ञा चाहता हूँ।" यह कहकर पुनः खमासमणा-सूत्र से वंदन करके कहे - "आपके द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है, उसे मैं (अन्य) साधुओं को बताऊँ ? आज्ञा दीजिए।" गुरु कहे - "बताओ।" फिर श्रावक परमेष्ठीमंत्र पढ़कर समवसरण की प्रदक्षिणा करे। उस समय संघ पूर्व में दिया गया वासक्षेप उसके मस्तक पर डाले। गुरु के आसन पर बैठने से लेकर संघ द्वारा वासक्षेप डालने तक की यह क्रिया को इसी विधि से तीन बार करें। पुनः श्रावक खमासमणा देकर कहे - "मैंने आपको निवेदित कर दिया है।" पुनः श्रावक खमासमणा देकर कहे - "मैंने साधुओं को भी निवेदित कर दिया है। अब कायोत्सर्ग करने की आज्ञा चाहता हूँ।" गुरु कहे - "करो।" फिर श्रावक "मैं सम्यक्त्व त्रय के स्थिरीकरण के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।" - यह कहकर वंदणवत्तियाए एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में सत्ताईस श्वासोश्वास प्रमाण चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव का पाठ करे। फिर चौथी स्तुति को छोड़कर शक्रस्तव द्वारा चैत्यवंदन करे। इसके बाद श्रावक गुरु की तीन प्रदक्षिणा

करे। फिर आसन पर विराजित गुरु श्रावक को सामने बैठाकर नियम-ग्रहण करे। नियम-ग्रहण की विधि इस प्रकार है -

“पांच उदुंबर, चार महाविकृति, अज्ञातफल, कुसुम, चलितरस वाले पदार्थ, बर्फ, विष, ओले, मिट्टी, रात्रिभोजन, दहीबड़े, बहुबीजवालेफल, अचार, पानीफल (तुच्छफल), बैंगन और अनंतकाय - इस प्रकार के बाईस द्रव्य श्रावक को नहीं खाने चाहिए, अर्थात् खाने के योग्य नहीं हैं। यह नियम देकर गुरु पुनः श्रावक द्वारा उच्चारण करवाए कि - “मैं जीवित रहूँ, वहाँ तक अरिहंत मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित सिद्धांत मेरा धर्म है, ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। इसके बाद अरिहंत को छोड़कर अन्य देवों को और जैन यति (साधु) को छोड़कर अन्य यतियों, या विप्र आदि को भावपूर्वक वंदन नहीं करूंगा। जिनेश्वर द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्वों को छोड़कर अन्य तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं करूंगा। इस नियम का पालन करता रहूंगा। अन्य देव और अन्यलिंगी (संन्यासी) विप्र आदि को नमस्कार एवं दान लोक-व्यवहार हेतु ही करूंगा एवं अन्य शास्त्र का श्रवण एवं पठन भी उसी प्रकार, अर्थात् लोक व्यवहार हेतु करूंगा।” फिर गुरु सम्यक्त्व का उपदेश देते हैं। वह इस प्रकार है-

“मनुष्यत्व, आर्यदेश, आर्यजाति, सर्व इन्द्रियों की परिपूर्णता और दीर्घ आयु- ये सब कर्मों की लघुता से कठिनाई से ही प्राप्त होते हैं। यदि पुण्य से श्रद्धापूर्वक कहने वाले एवं श्रवण करने वाले प्राप्त भी हो जाएं, तो भी तत्त्व के निश्चयरूपी बोधिरत्न की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। कुसिद्धांतरूप श्रुति का पराभव करने वाला सम्यक्त्व जिसके हृदय में सुस्थित है, उसे ही संसार को प्रकाशित करने वाला ज्ञान और चारित्र प्राप्त होता है। अर्हन्त देव में देव-बुद्धि, निर्ग्रन्थ गुरु में गुरु की बुद्धि एवं जिनभाषित शुद्ध धर्म में धर्म बुद्धि का होना ही सम्यक्त्व कहलाता है। कुदेव में देव-बुद्धि, कुगुरु में गुरु-बुद्धि एवं कुधर्म (अधर्म) में धर्म की बुद्धि रखना, सत्य से विपरीत होने के कारण मिथ्यात्व कहलाता है। रागादि दोषों को जीतने वाले, तीनों लोक में पूजित और यथार्थ वक्ता - ऐसे सर्वज्ञ अर्हंत परमात्मा देव कहलाते हैं।

यदि तुम्हारे पास सद एवं असद का विवेक करने की बुद्धि या चेतना हो, तो ऐसे अर्हन्त परमात्मा का ध्यान करो, उनकी उपासना करो, उनकी शरण ग्रहण करो और उनकी ही आज्ञा अंगीकार करो। जो देव स्त्री, शस्त्र और जपमालादि राग के चिन्हों से दूषित हैं और दूसरों का

निग्रह और अनुग्रह करने में तत्पर हैं, उन देवों की उपासना, पूजा आदि से मुक्ति नहीं मिलती, अर्थात् उन देवों की उपासना मुक्ति को दिलाने में समर्थ नहीं है। जो देव नाटक, अट्टहास और संगीत आदि उपद्रव से आत्मस्थिति में अस्थिर बने हुए हैं, वे स्वयं के आश्रित भक्तों को कैसे शांत-पद, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?

महाव्रत को धारण करने वाले, धीर, भिक्षा प्राप्त करके जीवन चलाने वाले, समभाव में स्थित और धर्मोपदेश देने वाले को ही निर्ग्रन्थ कहा जाता है। भक्ष्याभक्ष्यादि सभी वस्तुओं के अभिलाषी, सभी प्रकार का भोजन करने वाले, परिग्रह से युक्त, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु कहलाने के योग्य नहीं होते। परिग्रह और हिंसा में रत गुरु दूसरों का उद्धार कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि जो स्वयं निर्धन है, वह दूसरों को धनवान् कैसे बना सकता है ?

जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को बचाकर उनका रक्षण करे, उसका नाम धर्म है। संयमादि दस प्रकार का सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म मोक्ष देने वाला है। पुरुष (वक्ता) के बिना वचन संभव नहीं है और कदाचित् ऐसा हो भी जाए तो भी वे वचन प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वचनों की प्रामाणिकता आप्त (प्रामाणिक पुरुष) के अधीन है। जो मिथ्यादृष्टि वालों द्वारा प्रतिपादित किया गया है, जो मुग्धबुद्धि वाले प्राणियों में धर्म के रूप में ख्याति को प्राप्त है तथा जो धर्म भवभ्रमण का कारण है, वह वस्तुतः धर्म नहीं है, क्योंकि वह हिंसादि दोषों से दूषित है। यदि सरागी को देव कहा जाए, अब्रह्मचारी को गुरु माना जाए और दयारहित धर्म को धर्म कहा जाय, तो यह दुःख की बात है। ऐसी स्थिति में तो देव, गुरु एवं धर्म से शून्य इस जगत् को नष्ट हुआ ही समझना चाहिए।

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिकता - इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व को अच्छी तरह से पहचाना जा सकता है। स्थिरता, प्रभावना, भक्ति, जिनशासन में कुशलता और तीर्थ सेवा - इन पाँच गुणों से सम्यक्त्व सुशोभित हो उठता है, अतः इन्हें सम्यक्त्व का भूषण कहा गया है। शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि की स्तुति - ये पांचो सम्यक्त्व को अत्यन्त दूषित करने वाले हैं - इन सबको व्याख्यायित करें। साथ ही सम्यक्त्व का पालन करने वाले श्रेणिक, संप्रति, दशार्णभद्र आदि राजाओं के चारित्र का व्याख्यान करें। संग्रहणीसूत्र में कहा गया है - "चैत्यवंदन, गुरुवंदन, गृहस्थ-धर्म के व्रतों के पालन में

आने वाली बाधाओं को दूर कर एवं अतिचारों का सेवन न करते हुए यथाशक्ति व्रत को ग्रहण करने का और प्रदक्षिणा देने का उपदेश दें।”

उस दिन श्रावक एकासना, आयम्बिल आदि व्रत करे। साधुओं को आहार, वस्त्र, पुस्तक तथा रहने की जगह का दान करे। मण्डली-पूजा करे। चतुर्विध संघ का स्वधर्मी वात्सल्य करे, अर्थात् संघ को भोजन प्रदान करे और संघ-पूजा करे। यह व्रतारोपण संस्कार में सम्यक्त्व-सामायिक-आरोपण की विधि है।

देशविरति-सामायिक-आरोपण की विधि का वर्णन इस प्रकार है - सम्यक्त्व सामायिक आरोपण के तुरन्त बाद अर्थात् उसी समय या व्यक्ति की भावना के अनुरूप कुछ दिन, मास, वर्ष आदि व्यतीत होने पर देशविरति-सामायिक का आरोपण किया जाता है। उसमें नदी, चैत्यवंदन, कायोत्सर्ग, वासक्षेप करना खमासमणा देना आदि सब विधि पूर्ववत् ही हैं, किन्तु सभी जगह सम्यक्त्व-सामायिक के स्थान पर देशविरति- सामायिक शब्द का ग्रहण करें, अर्थात् बोलें। फिर उसी प्रकार प्रक्रिया करके पुनः दण्डक का उच्चारण करते हुए दूसरी नदी-विधि के व्रतोच्चारण-काल में तीन बार नमस्कार-मंत्र का पाठ करने के बाद हाथ में परिग्रह-परिमाण हेतु टिप्पणक, अर्थात् लेखपुस्तिका को ग्रहण किए हुए श्रावक से गुरु देशविरति-सामायिक-दण्डक का उच्चारण कराएं। वह इस प्रकार है -

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष स्थूल प्राणातिपात विरमण का व्रत (संकल्प) लेता हूँ। मैं निरपराध द्वीन्द्रिय आदि जीव-निकाय के निग्रह से विरत होने की प्रतिज्ञा करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग से अर्थात् मन, वचन, काया इन तीनों योगों से पाप व्यापार को न करूंगा, न कराऊंगा। हे भगवन् ! उन पापवाली प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, भर्त्सना (गर्हा) करता हूँ, तथा उसके प्रति अपनी ममत्व वृत्ति का विसर्जन करता हूँ, अर्थात् उसका त्याग करता हूँ।” यह आसन तीन बार बोले। इसी प्रकार “हे भगवन् ! आज मैं आपके स्थूल मृषावाद जो जिह्वाच्छेदन आदि निग्रह का हेतु है, कन्या संबंधी, गाय संबंधी, भूमि संबंधी, धरोहर के लेन-देन संबंधी, मिथ्यासाक्ष्य देने संबंधी - ऐसे पांच प्रकार के दाक्षिण्यादि विषयक कर्म, जो आज ग्रहण किये गये व्रत का भंग करने वाले हैं, का मैं प्रत्याख्यान करता हूँ । जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योगों से असत्य संभाषण से विरत होने की प्रतिज्ञा करता हूँ - शेष पूर्ववत्, इस प्रकार यह दण्डक भी तीन बार बोलें।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष स्थूल अदत्तादान - संध लगाने, चोरी करने, राजदण्ड दिलवाने वाला कर्म करने, सचित्त-अचित्त वस्तुओं में मिलावट करने (भेल-संभेल) का त्याग करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग से अर्थात् मन, वचन, काया - इन तीनों योगों से पाप-व्यापार को न करूंगा, न कराऊंगा” - शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष स्वपत्नी के अतिरिक्त, औदारिक एवं वैक्रिय शरीर द्वारा मैथुन-सेवन का त्याग करता हूँ और जो आज ग्रहण किए गए व्रत का भंग करने वाली हैं, उन पाप-प्रवृत्तियों को दो करण एवं तीन योग से, अर्थात् मन, वचन और काया - इन तीनों योगों से न करूंगा, न कराऊंगा” - शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले। “हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष अपरिमित परिग्रह-संग्रह की वृत्ति का त्याग करके धन, धान्य आदि नवविध वस्तुओं सम्बन्धी इच्छापरिमाण की प्रतिज्ञा करता हूँ। जो आज ग्रहण किए गए व्रत का भंग करने वाली हैं, उन प्रवृत्तियों को दो करण एवं तीन योग से अर्थात् मन, वचन और काया - इन तीनों योगों से न करूंगा, न कराऊंगा” - शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले। “हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष प्रथम गुणव्रत दिशापरिमाण का नियम ग्रहण करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग से, अर्थात् मन, वचन और काया - इन तीनों योगों से दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन न करूंगा, न कराऊंगा” - शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष उपभोग-परिभोग, अर्थात् खाद्य एवं उपभोग की वस्तुओं के परिमाण का व्रत ग्रहण करता हूँ। भोजन में अनंतकाय, बहुबीज, रात्रि- भोजन आदि का त्याग करता हूँ, शेष भोजन एवं उपयोग की वस्तुओं का परिमाण करता हूँ। साथ ही राजा के आदेश को छोड़कर अग्नि लगाना आदि अति हिंसक एवं कठोर कर्मों को करने का प्रत्याख्यान करता हूँ। अत्यन्त परिमित भोग-उपभोग संबंधी व्रत को ग्रहण करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग अर्थात् मन, वचन और काया - इन तीनों योगों से पाप व्यापार को स्वयं न करूंगा, न कराऊंगा” - शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष अनर्थदण्डगुणव्रत - आर्त्त-रौद्र ध्यान करना, पापोपदेश देना, हिंसा का आदेश देना, प्रमाद करना - ऐसे

चतुर्विध अनर्थदण्ड का यथा शक्ति परिहार करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग, अर्थात् मन, वचन एवं काया - इन तीनों योगों से पाप व्यापार को न स्वयं करूंगा, न अन्य से कराऊंगा"—शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष सामायिक-व्रत को यथाशक्ति ग्रहण करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग, अर्थात् मन, वचन एवं काया - इन तीनों योगों से पाप व्यापार को न करूंगा, न कराऊंगा”— शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष पौषध-उपवास व्रत को यथाशक्ति ग्रहण करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग, अर्थात् मन, वचन एवं काया - इन तीनों योगों से पाप-व्यापार को न करूंगा, न कराऊंगा।”— शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष देशावगासिकव्रत को यथाशक्ति ग्रहण करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग, अर्थात् मन, वचन एवं काया - इन तीनों योगों से पाप-व्यापार को न करूंगा, न कराऊंगा।”— शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष अतिथिसंविभागव्रत को यथाशक्ति ग्रहण करता हूँ। जीवन पर्यन्त दो करण एवं तीन योग अर्थात् मन, वचन एवं काया - इन तीनों योगों से पाप-व्यापार को न करूंगा, न कराऊंगा।”— शेष पूर्ववत्, इस प्रकार तीन बार बोले।

सम्यक्त्व आधारित पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - इस प्रकार द्वादशविध श्रावकधर्म को स्वीकार करके जीवन निर्वाह करूंगा। यह दण्डक उच्चारण करने के पश्चात् कायोत्सर्ग वन्दन, खमासमणा, प्रदक्षिणा देना, वासक्षेप आदि सब क्रियाएँ पूर्ववत् करे।

परिग्रहपरिमाणटिप्पणक की विधि इस प्रकार है -

“अमुक जिनेश्वर को प्रमाण करके मैं अमुक श्राविका या अमुक श्रावक अमुक गुरु के पास गृहस्थ-धर्म को ग्रहण करता हूँ। अरिहंत को छोड़कर मैं किसी अन्य देव को प्रणाम नहीं करूंगा। निर्ग्रन्थ साधु को छोड़कर मैं किसी अन्य को प्रणाम नहीं करूंगा। जिनवचनों से भावित तत्त्वादि को सत्य (वास्तविक) जानूंगा। मिथ्याशास्त्र के श्रवण, पठन एवं लिखने का मैं त्याग करता हूँ, अर्थात् यह नहीं करूंगा। परतैर्थिकों के प्रति, प्रणाम, उनकी प्रभावना, स्तुति, भक्ति और उनके प्रति प्रीति सत्कार,

सम्मान, दान और विनय का मैं धर्मबुद्धि से त्याग करता हूँ। धर्म-बुद्धि से अन्य धर्म-संघ में तप, दान, स्नान, होम आदि नहीं करूंगा, किंतु उनमें जयणा (यत्न) पूर्वक उचित कर्म मेरे द्वारा करणीय हैं। यथाशक्ति दिन में तीन या पांच या सात बार चैत्यवंदन करूंगा। एक बार या दो बार सुसाधुओं को वंदन करूंगा तथा उनका सत्संग करूंगा। दिन में नित्य एक बार, दो बार, तीन बार जिनपूजा एवं स्नान करूंगा और कुलाचार का पालन करूंगा। सर्वजीवों का प्राणवध नहीं करूंगा। अकरणीय कार्य नहीं करूंगा और एकेन्द्रिय जीवों की यथाशक्य रक्षा करूंगा।

कन्या, पशु, भूमि, धरोहर आदि सम्बन्धी मिथ्याकथन के वर्जन रूप पांच नियमों को ग्रहण करता हूँ। जो कारागार तथा राजनिग्रह का हेतु है, ऐसे धन की चोरी करने के कार्य का मैं मन, वचन और काया से करने और कराने का त्याग करता हूँ। देव, देवी सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से करने और कराने का तथा मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन तथा शरीर से करने का त्याग करता हूँ, जो कि मुझे मुक्ति का अनुभव कराने वाला है।

मैं मनुष्य-जन्म में जीवन पर्यन्त परस्त्री एवं परपुरुष के साथ काया से मैथुन का वर्जन करता हूँ और परस्पर (अपनी स्त्री के साथ) भी संयम का पालन करूंगा।

इसी प्रकार नौ प्रकार के परिग्रह का परिमाण किया जाता है। मैं मात्र इतने रूपए, इतने सोने के सिक्कों का ग्रहण करूंगा। इसी प्रकार अन्य वस्तु भी इतनी संख्या में या इतने वजन में संचित करूंगा। जैसे - धान्य आदि इतने परिमाण में (तोल-माप की अपेक्षा) रखूंगा। भूमि के सम्बन्ध में नगर, गाँव, बाजार आदि में इतने भवन या गृह का तथा कृषि भूमि का परिमाण करता हूँ। मात्र इतना सोना, इतनी चांदी एवं इतना कांसा, तांबा, लोहा, रांगा एवं सीसा घर में रखूंगा। ज्यादा से ज्यादा इतने दास-दासी या सेवक रखूंगा। इतनी संख्या में हाथी, घोड़े, बैल, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि इतनी गाड़ी, रथ, हल आदि रखूंगा। जीवन पर्यन्त दसों दिशाओं में इतने योजन भूमि तक व्यापार या भोग-उपभोग निमित्त जाना-आना रखूंगा, उससे आगे उक्त हेतु जाने का त्याग करता हूँ। अपनी शक्ति के अनुसार तीर्थ-यात्रा हेतु भी जयणा रखूंगा। भोग-उपभोग परिमाण के अन्तर्गत अत्यधिक हिंसा से युक्त पन्द्रह कर्मादान, अर्थात्

व्यापार का तथा अपक्व आहार, अज्ञात फल-फूल आदि का भी वर्जन करता हूँ।

पांच उदुंबर, चार विकृति, बर्फ, विष, ओला, सर्वप्रकार की मिट्टी और रात्रि-भोजन का त्याग करता हूँ। इसी प्रकार बहुबीज, अनंतकाय, अचार, घोलवड़ा (द्विदल), बैंगन, अज्ञात फल-फूल, तुच्छफल, चलितरस आदि त्यागने योग्य बाईस अभक्ष्य का त्याग करता हूँ। इसी प्रकार अज्ञात फल-फूल एवं पत्तों का भी त्याग करता हूँ। इस प्रकार के पदार्थों का न मैं भक्षण करूंगा और न पान करूंगा।

मर्यादित फलों में भी मैं अपक्व (कच्चे) एवं अखंडित फल का भक्षण नहीं करूंगा। आजन्म संचित वस्तुओं का भी इतनी मात्रा में ही भक्षण करूंगा। तले हुए व्यंजन, घी, दूध, दही आदि विकृति (विगई) का तथा संचित फल आदि के साथ ही इतने हाथी, घोड़े, रथ का मैं यतनापूर्वक उपयोग करूंगा। सुपारी, लौंग एवं (तेज) पत्ता, इलायची और जायफल की इतनी मात्रा का ही उपयोग करूंगा, उससे अधिक मात्रा का नहीं। चार प्रकार के वस्त्रों में भी इतने वस्त्र पहनने मेरे लिए कल्प्य हैं। अमुक जाति के तथा इतनी संख्या में निश्चित पुष्पों का मैं शरीर हेतु उपयोग करूंगा।

मैं मात्र इतने आसन, सिंहासन, पीढ़े, आसन, चौकी, पलंग, खाट, गद्दे आदि का उपयोग करूंगा। कपूर, अगरू, कस्तूरी, श्रीखण्ड, कुंकुम अंगलेप आदि का उपयोग करूंगा। पूजन-कार्य में भी इस सम्बन्ध में सावधानी रखूंगा। नारियों के सम्भोग की भी मर्यादा करता हूँ। पानी के इतने घड़े की पीने के लिए तथा इतने घड़ों की इतनी बार स्नान करने के लिए मर्यादा करता हूँ। इतने प्रकार के तेलों का इतनी मात्रा में उपयोग करूंगा। इसी प्रकार इतनी मात्रा में दिन में इतनी बार भोजन की मर्यादा करूंगा। इसी प्रकार जीवनपर्यंत यथानिश्चित संचित वस्तुओं आदि का भोग-उपभोग करूंगा। उनकी संख्या का निश्चय मैं प्रतिदिन करूंगा। मणि, सोना, चांदी, मुक्ता (मोती) आदि के इतने आभूषणों को शरीर पर धारण करूंगा। एक निश्चित मर्यादा के अतिरिक्त गीत, नृत्य (नाट्य) और वाद्य के उपभोग का मैं त्याग करता हूँ। मैं आर्त्त-रौद्र ध्यान का तथा शत्रु के घात, हिंसा आदि का भी मैं त्याग करता हूँ। उदारतावश सावद्यकारी उपदेश देने या किसी की प्रशंसा-निंदा करने का त्याग करता हूँ। मैं पशु पक्षी के युद्ध करवाने का, पूरी रात एवं अकाल में निद्रा लेने का आदि सभी प्रकार के अनर्थदण्ड और उसमें होने वाले दोषों का त्याग करता हूँ।

मैं वर्ष में इतनी सामायिक, इतने पौषध आदि करूंगा। मैं दसों दिशाओं में इतने योजन तक गमन करूंगा। भोजन, वस्त्र आदि का साधु-साधियों को दान दूंगा। सर्वप्रथम यतिजनों को दान देकर एवं उन्हें प्रणाम करके फिर स्वयं भोजनादि करूंगा। सुविहित साधुओं का योग नहीं होगा, तो दिशावलोकन करके भोजन करूंगा। इस प्रकार मैं बारह प्रकार के श्रावक-धर्म का पालन करूंगा। भले ही मृत्यु हो जाये, फिर भी मैं बिना छने हुए जल का पान एवं उससे स्नान नहीं करूंगा। मैं कामवर्धक कथा करने, अहंकारपूर्वक खंखार करने, अमर्यादित रुचिकर चतुर्विध आहार करने तथा जिन से युक्त जिन मंडप में विकथा और कलह करने का त्याग करता हूँ।

मैं अमुक गच्छ में, अमुक गुरु की, या आचार्य की परम्परा में (वंश में) उनके अमुक शिष्य के पास, अमुक सूरि की निश्रा में, अमुक वर्ष में, अमुक मास में, अमुक पक्ष में, अमुक तिथि में, अमुक वार में, अमुक नक्षत्र में एवं अमुक नगर में, अमुक का पुत्र, अमुक श्रावक, अमुक श्रावक की भार्या, या अमुक श्राविका इस गृहस्थ-धर्म को ग्रहण करता हूँ/करती हूँ।

क्षत्रियों के लिए प्राणातिपात-विरति के स्थान पर अतिरिक्त दो गाथाएँ देकर उनकी व्रतमर्यादा बताई गई है, वे इस प्रकार हैं - युद्ध में तथा गोगृह (गोकुल), चैत्य, गुरु, साधु एवं संघ पर उपसर्ग होने की स्थिति में उनके रक्षार्थ तथा दुष्टों का निग्रह करने की स्थिति में होने वाले जीवों के घात में मुझे व्रतभंग का दोष नहीं है। इसी प्रकार स्त्री एवं देश के रक्षणार्थ सिंह, व्याघ्र एवं शत्रु का नाश करने में भी मुझे व्रतभंग का दोष नहीं है, अन्यत्र यथाशक्ति जीवरक्षा करूंगा तथा छाना हुआ ही जल पीऊंगा।

इस प्रकार की मर्यादाओं सहित गुरु के वचनानुसार इस गृहीधर्म का आचरण करें। अल्प या अधिक रूप से व्रत का भंग होने पर दोष-विशुद्धि करें। यह परिग्रह परिमाण के टिप्पणक की विधि है। इन बारह व्रतों में भी जो श्रावक जितने व्रतों का ग्रहण करता है, उसको उतने व्रत कहे जाते हैं।

जो छः मासिक सामायिक व्रत को स्वीकार करता है। उसकी विधि यह है - चैत्यवन्दन, नदी, खमासमणा आदि सब सामायिक में कहे गए अनुसार करें। विशेष यह है कि कायोत्सर्ग के बाद उसके हाथ में रही हुई नवीन मुखवस्त्रिका पर गुरु वासक्षेप डाले। उसी मुखवस्त्रिका से वह छः

मास तक दोनों समय सामायिक ग्रहण करे। फिर तीन बार नमस्कार—मंत्र का पाठ करके दण्डक का उच्चारण कराएँ। वह इस प्रकार है -

“हे भगवन् ! मैं सामायिकव्रत ग्रहण करता हूँ, अतः सभी पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ। जब तक मैं इस नियम का पालन करूंगा, तब तक मन, वाणी और शरीर रूपी तीनों योगों से पाप—व्यापार को न तो स्वयं करूंगा और न कराऊंगा। हे भगवन् ! (पूर्वकृत पाप—प्रवृत्ति से) मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, उसकी भर्त्सना करता हूँ एवं उनके प्रति रहे हुए ममत्व भाव का त्याग करता हूँ।

चार प्रकार की यह सामायिक इस प्रकार है - 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल एवं 4. भाव । द्रव्य से सामायिक की अपेक्षा से एवं क्षेत्र से इस क्षेत्र में (यहाँ) अथवा अन्यत्र, काल से छः मास तक, भाव से जब तक ग्रहों से ग्रसित न होऊँ, जब तक छल से छला न जाऊँ, जब तक सन्निपात आदि से ग्रसित न होऊँ तब तक मैं इस सामायिक व्रत को धारण करता हूँ। (इस पाठ का) तीन बार उच्चारण करने वाले के सिर पर गुरु वासक्षेप करे। अक्षत, वास आदि को अभिमंत्रित करना और संघ के हाथ में वासक्षेप देना - ये दोनों क्रियाएँ यहाँ नहीं की जाती है, किन्तु तीन प्रदक्षिणा देते हैं। यह छः मासिक सामायिक आरोपण की विधि है। इसी प्रकार अन्य द्वादश व्रतों को भी इसी प्रकार दण्डक उच्चारण की विधि के द्वारा मास या छःमास या वर्ष भर की अवधि हेतु दण्डक का उच्चारण करें, अर्थात् व्रत का ग्रहण करें। फिर सम्यक्त्व आदि व्रतों के काल को लेकर आगे “जावज्जीव” शब्द न बोलें, उसके स्थान पर मास, या छः मास, या वर्ष इत्यादि अवधि का ही उच्चारण करें। शेष व्रतों में भी “जावज्जीव” शब्द के स्थान पर मास, या छः मास, या वर्ष इत्यादि अवधि का ही उच्चारण करें।

श्रावक—प्रतिमाओं के उद्वहन की विधि इस प्रकार से है - जो प्रतिमा जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण की जाती है, उसमें काल आदि का नियम नहीं होता है, शेष में होता है। गृहस्थ की प्रतिमाएँ ग्यारह हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. दर्शन 2. व्रत 3. सामायिक 4. पौषध 5. नियम—प्रतिमा
6. ब्रह्मचर्य 7. सचित्त—त्याग 8. आरंभ—त्याग 9. प्रेष्यत्याग 10. उद्दिष्ट—
त्याग और 11. श्रमणभूत प्रतिमा।

इन ग्यारह प्रतिमाओं में से जिसमें श्रावक शंका आदि से रहित होकर निर्मल सम्यक् दर्शन का पालन करता है, उसे पहली दर्शन-प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार दूसरी प्रतिमा में श्रावक व्रतधारी, तीसरी प्रतिमा में सामायिककर्ता, चौथी प्रतिमा में चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्व तिथियों में पूर्णरूपेण चतुर्विध आहार का त्याग कर पौषधधारी होता है। पौषधकाल में रात्रि में भी ध्यानादि प्रतिमा का वहन करता है। पाँचवी प्रतिमा में श्रावक स्नान-रहित, प्रासुक भोजन करने वाला, दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का एवं रात्रि में भी कृत परिमाण होकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाला होता है। छठी प्रतिमा में श्रावक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। सातवीं प्रतिमा में सचित्त आहार का त्याग करता है। आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरंभ समारंभ करने का त्याग करता है। नवीं प्रतिमा में प्रेष्यारंभ का त्याग करता है। दसवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट-कृत आहार का त्यागी होता है, सिर का मुण्डन करता है। (कुछ चोटी भी रखते हैं।) स्वयं परिग्रह रहित होता है, तथापि (पुत्रादिक को) अर्थ के विषय में (जानता हो, तो) निर्देश देने वाला होता है। ग्यारहवीं प्रतिमा में उस्तरे से मुण्डन करके या लोच करके रजोहरण और पात्रग्रहण कर साधु के समान भिक्षाचर्या एवं विचरण करता है। निर्ममत्व हो स्वज्ञाति से आहारादि प्राप्त करता है। प्रथम प्रतिमा का वहन एक मास तक, द्वितीय प्रतिमा का दो मास तक, तृतीय प्रतिमा का तीन मास, इस प्रकार बढ़ते क्रम में ग्यारहवीं प्रतिमा का वहन ग्यारह मास तक करता है। जो नियम पूर्व प्रतिमा में कहे गये हैं, उनका वहन आगे की उत्तरोत्तर प्रतिमाओं में भी करें। इनमें वितथ-प्रज्ञापना एवं श्रद्धान् आदि अतिचार हैं। इनमें से सबसे पहले दर्शन-प्रतिमा की विधि यह है -

दर्शन-प्रतिमा :-

इसमें भी पूर्ववत् नंदी, चैत्यवंदन, खमासमणा, वासक्षेप आदि की विधि करके एवं दर्शनप्रतिमा ग्रहण सम्बन्धी पाठ का उच्चारण करें। वह पाठ (दण्डक) इस प्रकार है -

“हे भगवन् ! आज मैं आपके समक्ष द्रव्य एवं भाव रूप मिथ्यात्व का त्याग करता हूँ एवं दर्शन-प्रतिमा को ग्रहण करता हूँ। आज से अन्य तैर्थिकों के देवों तथा अन्य तैर्थिकों द्वारा ग्रहीत अर्हत् चैत्यों को वंदन एवं नमस्कार करने, अन्य तैर्थिकों के साथ सम्भाषण करने, उन्हें बुलाने या उनसे संलाप करने का त्याग करता हूँ। इसी प्रकार उनको अशन, पान, खादिम, स्वादिम देने का मैं तीन योग एवं तीन करण से, अर्थात् मन,

वचन, काया से करने, करवाने, अन्य करने वालों की अनुमोदना करने का त्याग करता हूँ तथा मैं अपने द्वारा पूर्वकृत इन दोषो की अत्यंत निंदा करता हूँ, तत्सम्बन्धी की जा रही क्रिया का संवरण करता हूँ एवं भविष्य में उन्हें न करने हेतु प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं अरिहंत की साक्षी से, सिद्धों की साक्षी से, साधुजनों की साक्षी से एवं आत्मसाक्षी से इन सब क्रियाओं का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से त्याग करता हूँ। द्रव्य से इस दर्शनप्रतिमा का, क्षेत्र से सर्वत्र, काल से एक मास तक, भाव से जब तक दुष्ट ग्रहों से ग्रसित न होऊँ, जब तक छल से छला न जाऊँ, जब तक सन्निपात आदि उपद्रवों में चित्त-विक्षोभ न हो, तब तक मैं इस दर्शन-प्रतिमा का पालन करूंगा।”

इसके बाद तीन प्रदक्षिणा आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् करें। फिर दर्शन-प्रतिमा के स्थिरीकरणार्थ कायोत्सर्ग आदि करें। यहाँ यथाशक्ति एक मास तक आयम्बिल आदि व्रत करने की प्रतिज्ञा लें, तीनों समय (त्रिसंध्या) विधिपूर्वक देव पूजा करें तथा पार्श्वस्थ आदि को वन्दन करने का त्याग करें। सम्यक्त्व के शंका आदि पांच अतिचारों का वर्जन करें। राजाभियोग आदि छः उपसर्गों के होने पर भी सम्यक्त्व का त्याग नहीं करूंगा, ऐसा अभिग्रह करें। यही दर्शन-प्रतिमा की विधि है।

व्रत-प्रतिमा :-

द्वितीय व्रतप्रतिमा की विधि इस प्रकार है - दो मास तक निरपवाद रूप से पाँच अणुव्रतों के परिपालन के साथ-साथ तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करें। इसमें भी नंदी, खमासमणा, प्रत्याख्यान एवं नियम-ग्रहण प्रतिज्ञा-पाठ (दण्डक) का उच्चारण आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् करें - यह व्रत प्रतिमा की विधि है।

सामायिक-प्रतिमा :-

तृतीय सामायिक-प्रतिमा की विधि में तीन मास तक दोनों समय सामायिक करते हैं। शेष नंदी, व्रत, नियम आदि की विधि एवं प्रतिज्ञा-पाठ (दण्डक) के उच्चारण की विधि पूर्ववत् ही है, यही सामायिक-प्रतिमा की विधि है।

पौषध-प्रतिमा :-

चतुर्थ पौषधप्रतिमा की विधि इस प्रकार से है - इसमें चार मास तक अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों में चतुर्विध आहार का त्याग करके तथा शरीर-सत्कार, मैथुन-कर्म एवं व्यापार आदि का निषेध कर

पौषध—व्रत करते हैं। इस पौषध—व्रत की द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से आराधना की जाती है, जैसे काल की अपेक्षा से जब तक उसकी आराधना की जाती है, तब तक इसमें भी नंदी, व्रत, नियम आदि की ग्रहण—विधि एवं प्रतिज्ञा—पाठ का उच्चारण आदि पूर्ववत् ही है। यह चौथी पौषध—प्रतिमा की विधि है।

इस प्रकार शेष प्रतिमाओं को भी पाँच मास आदि के समय हेतु ग्रहण करने की विधि भी पूर्वोक्त ही है — नंदी, खमासमणा, दण्डकादि क्रियाएँ भी पूर्ववत् करके प्रतिज्ञा पाठ में उल्लेखित व्रतचर्या का पालन करें, किन्तु कालिक परिस्थितियों एवं संघयण की शिथिलता के कारण, पांच से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमाओं तक की अनुष्ठान—विधि वर्तमान में दृष्टिगोचर नहीं होती है। उचित समय पर उचित क्रमानुसार क्रिया करते हुए प्रथम प्रतिमा के आरम्भ में ही शुभ मुहूर्त आदि का अवलोकन कर लिया जाता है, शेष प्रतिमाओं का वहन उसी क्रम से सतत् रूप से करते हैं। उसमें मुहूर्त आदि देखने की आवश्यकता नहीं होती है। जिन क्रियाओं को अलग—अलग समय में किया जाना है, उनके प्रारम्भ में मुहूर्त आदि देखा जाता है। यह सम्यक्त्व—सामायिक—आरोपण की विधि है।

अब श्रुतसामायिक—आरोपण की विधि का वर्णन है :—

साधुओं को योगोद्वहन विधि से श्रुत आरोपण हेतु आगम—पाठों के अध्ययन—अध्यापन द्वारा श्रुतसामायिक का आरोपण कराते हैं। गृहस्थों का श्रुतसामायिक आरोपण योगोद्वहन एवं आगम—पाठ के बिना उपधानवहनपूर्वक कराते हैं और गृहस्थों के श्रुतारोपण में पंचपरमेष्ठी मंत्र, ईर्यापथिकी, शक्रस्तव, चैत्यस्तव, चतुर्विंशतिस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव आदि पढ़ाते हैं। जिसके द्वारा उपधान, अर्थात् ज्ञान आदि की परीक्षा की जाती है, वह उपधान है, अथवा चतुर्विध संवर समाधिरूप सुखशय्या पर जो उत्तम रूप में सिरहाने की तरफ रखा जाता है, उसे उपधान कहते हैं। ज्ञातव्य है कि उपधान में छः श्रुतस्कन्धों का उपधान होता है — (1.) परमेष्ठी मंत्र का (2.) ईर्यापथिकी का (3.) शक्रस्तव का (4.) अर्हत्—चैत्यस्तव का (5.) चतुर्विंशतिस्तव का (6.) श्रुतस्तव का और (7.) सिद्धस्तव का। सिद्धस्तव की प्रथम तीन गाथाओं की वाचना उपधान के बिना भी होती है। शेष गाथाएँ आधुनिक हैं, अतः उनके हेतु उपधान आवश्यक नहीं है।

प्रथम परमेष्ठी—मंत्र महाश्रुतस्कन्ध के पाँच अध्ययन एवं एक चूलिका हैं और दो—दो पद के पाँच आलापक हैं। अरिहंत, आचार्य और उपाध्याय को नमस्काररूप सात अक्षर वाले तीन पद हैं, द्वितीय पद में सिद्धों और पंचम पद में साधुओं को नमस्कार करने रूप पांच एवं नौ अक्षर हैं। फिर पाँच पदों के बाद चूलिका है।

चूलिका के प्रथम आलापक में दो पद और सोलह अक्षर हैं, द्वितीय आलापक में, तृतीय पद के आठ अक्षर हैं, तृतीय आलापक में चतुर्थपद के नौ अक्षर हैं। पाँच पदों के दो उद्देशक एवं चूलिका में तीन उद्देशक हैं। इन पाँच पदों के पैंतीस अक्षर एवं चूलिका के तैंतीस अक्षर हैं एवं कुल पाँच अध्ययन हैं। जैसे —“नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोएसव्वसाहूणं।” एक चूलिका जैसे — “एसो पंच नमुक्कारोसव्वपावप्पणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।” पाँच आलापक (अध्ययन) इस प्रकार हैं —“नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं।” — प्रथम आलापक, “नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं”— द्वितीय आलापक, “नमो लोए सव्वसाहूणं”— तृतीय आलापक, “एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो”— चतुर्थ आलापक और “मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं” — यह पंचम आलापक है। निम्न तीन पदों में अक्षरों का परिमाण समान है, जैसे — नमो अरिहंताणं — 7, नमो आयरियाणं — 7, नमो उवज्झायाणं — 7, यह एक उद्देशक हुआ। द्वितीय पद में पाँच अक्षर “नमो सिद्धाणं”, हैं, यह द्वितीय उद्देशक है। पाँचवे पद के नौ अक्षर है “नमो लोएसव्वसाहूणं”, यह तृतीय उद्देशक है।

चूलिका में प्रथम आलापक सोलह अक्षर “एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो” का है, यह चूलिका का प्रथम उद्देशक है। चूलिका में द्वितीय आलापक आठ अक्षर का है, “मंगलाणं च सव्वेसिं”, यह चूलिका का द्वितीय उद्देशक है। चूलिका में तृतीय आलापक नौ अक्षर का है “पढमं हवइ मंगलं”— यह चूलिका का तृतीय उद्देशक है। कुल मिलाकर 68 अक्षर हैं। इसकी उपधान—विधि इस प्रकार है — नंदी, देववन्दन, कायोत्सर्ग, खमासमणा सूत्र—पूर्वक गुरु—वन्दन और अभिमंत्रित वासक्षेप का क्षेपन आदि की विधि पूर्ववत् है। यहाँ प्रथम दिन एकभक्त (एकासना) के बाद बारह दिनों में पांच उपवास करें। प्रथम नंदी वाले दिन एकासना या निवि करें, दूसरे दिन उपवास करें, तीसरे दिन एकासना करें, चौथे दिन उपवास करें। इसी प्रकार से पाँचवे दिन एकभक्त, छठे दिन उपवास, सातवें दिन

एकभक्त, आठवें दिन उपवास, नवें दिन एकभक्त, दसवें दिन उपवास, ग्यारहवें दिन एकभक्त और बारहवें दिन उपवास करें। प्रथम उपधान में यह बारह दिन का तप है। यहाँ पंचपरमेष्ठी पदों की वाचना नंदी के बिना भी दें। शक्रस्तव के उच्चारण एवं वासक्षेपपूर्वक सभी वाचनाओं में तीन बार नमस्कार-मंत्र का पाठ करें। तदनंतर लगातार आठ आयम्बिल करें - इस प्रकार उन्नीस दिन¹ हुए। फिर बीसवें दिन एकभक्त, इक्कीसवें दिन उपवास, बाइसवें दिन एकभक्त, तेईसवें दिन उपवास, चौबीसवें दिन एकभक्त, पच्चीसवें दिन उपवास - इस प्रकार उत्तर उपधान में यह आठ तप करें। फिर चूलिका वाचना - "एसो पंच नमुक्कारों, सब्बपावप्पणासणोमंगलाणं च सब्बेसिं पढमं हवइ मंगलं", तक करें। यह नमस्कार मंत्र की उपधान-विधि है।

इसकी वाचना की विधि यह है - पहले समाचारी पुस्तक का पूजन करे, फिर पश्चिमाभिमुख हो मुखवस्त्रिका से मुख को आच्छादित करके ईर्यापथिकी के दोषों का प्रतिक्रमण करके खमासमणा सूत्रपूर्वक वंदन करके कहे -

"हे भगवन् ! नमस्कार मंत्र की वाचना आप द्वारा देने एवं मेरे द्वारा उसे ग्रहण के लिए वासक्षेप करें, या चैत्यवंदन कराएं।

इस प्रकार छब्बीसवें दिन एकभक्त होने पर नंदीक्रियापूर्वक वाचना दें। चतुर्थ चूलिका-पद के सभी उपधानों में प्रतिदिन व्यापार से निवृत्ति लेकर पौषध करें। प्रातः काल पौषध पूर्ण कर, नित्य पुनः पौषधव्रत ग्रहण करें, एवं एक हजार मंत्र का स्मरण करें - यह प्रथम नमस्कार-सूत्र की उपधान की विधि है।

ईर्यापथिक-सूत्र के उपधान की विधि भी ऐसी ही है - दो नंदी के अतिरिक्त आदि से लेकर अन्त तक की सभी क्रियाएँ पूर्व में कहे अनुसार करें। इसके आठ अध्ययनों की दो वाचनाएँ एवं एक चूलिका की वाचना - इस प्रकार इसकी तीन भागों में वाचना देते हैं - पाँच पदों की एक चूलिका है, यथा - "इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहिआए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीअक्कमणे हरियक्कमणे ओसाउत्तिंगपणगदगमट्टी-मक्कडासंताणासक्कमणे जे मे जीवा विराहिआ" - यह प्रथम वाचना है, इसे बारह दिनों के तप के पश्चात् देते हैं। "एगिदिआ, बेइदआ तेइदआ चउरिदिआ पचिंदिया अभिहया वत्तिया लेसिआ, संघाइया संघट्टिआ परिआविआ किलामिआ उद्देविआ ठाणाओ ठाणं संकामिआ जीविआओं

ववरोविआ तस्स मिच्छामि दुक्कडं; तस्स उत्तरी करणेणं यावत् ठामि काउस्सग्गं”- यह द्वितीय वाचना है, इसे आठ आयम्बिल के अन्त में, अर्थात् आठवें आयम्बिल के दिन देते हैं। इसके बाद चूलिका की तीसरी वाचना-“अन्नत्थ उससिएण जाव वोसरामि”, इत्यादि उपधान के अन्तिम दिन दें; यह द्वितीय ईर्यापथिक-सूत्र के उपधान की विधि है।

शक्रस्तव के उपधान की विधि इस प्रकार है - नंदी आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् करें। प्रथम दिन एकभक्त, द्वितीय दिन उपवास, तृतीय दिन एकभक्त, चतुर्थ दिन उपवास, पाँचवे दिन एकभक्त, छठे दिन उपवास और सातवें दिन एकभक्त करें - यहाँ तीन संपदाओं से युक्त निम्न प्रथम वाचना दें - “नमुत्थुणं अरिहंताण भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं” - यह प्रथम वाचना है। फिर क्रमशः निरन्तर सोलह आयम्बिल करें। उसके अन्त में तीन संपदा से युक्त पांच-पांच पदों की निम्न वाचना दें - “लोगुत्तमाणं याव लोगपज्जोगराणं, अभयदयाणं, यावद्वोहिदयाणं, धम्मदयाणं जाव धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं”, यह द्वितीय वाचना है। फिर निरन्तर सोलह आयम्बिल करें, पुनः दो-दो एवं तीन-तीन पदों की तीन संपदाओं की वाचना दें - “अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टुछउमाणं जिणाणं जाववाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरूयमणंतमकखयमव्वाबाहमपुण- रावित्तिसिद्धगइनामधेयंठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिय भयाणं”, यह तृतीय वाचना है। इसके साथ ही - “जे अइया सिद्धा जे अ भविस्संति णागए काले। संपइय वट्टमाणा सव्वे तिविहेण वंदामि” - ऐसी अन्तिम गाथा की वाचना भी तृतीय वाचना के साथ ही दें। यह शक्रस्तव की वाचना की उपधान की विधि है।

चैत्यस्तव उपधान की विधि का वर्णन इस प्रकार है - नंदी आदि सब विधि-विधान पूर्ववत् करें। प्रथम दिन एक भक्त, द्वितीय दिन उपवास, तृतीय दिन एकभक्त फिर एक साथ तीन आयम्बिल करें, फिर चैत्य-स्तव के तीन अध्ययनों की उसी समय एक साथ वाचना दें। वह इस प्रकार है - “अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तिआए पूअणवत्तिआए सक्कारवत्तिआए सम्माणवत्तिआए बोहिलाभवत्तियाए निरूवस- ग्गवत्तियाए सद्दाए मेहाए जाव ठामि काउस्सग्गं अन्नत्थ उससिएणं जाव वोसरामि” -

यह चैत्यस्तव की वाचना है। यह चैत्यस्तव की वाचना की उपधान-विधि है।

अब चतुर्विंशतिस्तव की वाचना के उपधान की विधि का उल्लेख करते हैं - दो नंदी सहित सभी क्रियाएँ पूर्ववत् करें। प्रथम दिन एकभक्त, द्वितीय दिन उपवास, तृतीय दिन एकभक्त, चतुर्थ दिन उपवास, पाँचवे दिन एकभक्त, छठे दिन उपवास, सातवें दिन एकभक्त और आठवें दिन उपवास - यह आठ दिन के तप हैं। प्रथम तीन गाथाओं की वाचना "लोगस्स से लेकर केवली" पद तक - यह प्रथम वाचना है। फिर क्रमशः लगातार बारह आयम्बिल करें। उसके अन्त में निम्न तीन गाथाओं की वाचना दें - उसभमजियं च वंदे से लेकर वद्धमाणं च तक की - यह द्वितीय वाचना है। फिर उसी क्रम में तेरह आयम्बिल करें। उसके अंत में "एवं मए अभिथुया से लेकर सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" तक की - यह तृतीय वाचना है। यह चतुर्विंशतिस्तव की वाचना की उपधान-विधि है।

श्रुतस्तव के उपधान की विधि इस प्रकार से है - दो नंदी आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् करें। प्रथम दिन एकभक्त, द्वितीय दिन उपवास, तृतीय दिन एकभक्त फिर लगातार पाँच आयम्बिल करें। उसके अन्त में दो गाथाओं की एवं दो व्रतों की वाचना एक ही साथ दे। यहाँ पाँच अध्ययनों में से दो अध्ययनों की दो गाथाओं द्वारा, तृतीय अध्ययन की बसंततिलका वृत्त द्वारा, चतुर्थ अध्ययन की शार्दूल विक्रीडित वृत्त के पूर्वाद्ध द्वारा एवं पंचम अध्ययन की उसके उत्तराद्ध द्वारा वाचना दी जाती है - यह श्रुतस्तव की वाचना की उपधान-विधि है।

इस प्रकार ये छः उपधान बताए गए हैं। सातवें सिद्धस्तव में पहली तीन गाथाओं की वाचना उपधान के बिना ही दी जाती है, शेष गाथाएँ आधुनिक हैं (अतः उनके लिए उपधान आवश्यक नहीं है) - यह उपधान-वाचना की स्थिति है। इसका विस्तृत विवेचन निशीथसूत्र से उद्धृत 'उपधानप्रकरण' में है। उसके अनुसार उपधान-विधि इस प्रकार है-

नमस्कारमंत्र की उपधान-विधि में द्वादश दिन तप के होते हैं, वे इस प्रकार हैं -

पहले आठ आयम्बिल करें फिर एक उपवास और फिर अंत में एक अष्टम, यानि निरन्तर तीन उपवास करें - यह नमस्कार-मंत्र की उपधान-विधि है। इरियावही उपधान की विधि भी नमस्कार-मंत्र के उपधान के समान ही है।

इसके बाद शक्रस्तव के सम्पूर्ण उपधान की तप-विधि इस प्रकार है - सर्वप्रथम एक अङ्गुल, अर्थात् निरन्तर तीन उपवास करें, फिर बत्तीस आयम्बिल करें।

तत्पश्चात् अरिहंत चैत्यस्तव की उपधान-विधि इस प्रकार से है - पहले एक उपवास करें, फिर तीन आयम्बिल करें।

चतुर्विंशतिस्तव की उपधान-विधि इस प्रकार है - पहले तीन उपवास करें और फिर पच्चीस आयम्बिल करें।

श्रुतस्तव की उपधान विधि इस प्रकार है - पहले एक उपवास करें, फिर पाँच आयम्बिल करें।

तीर्थकर गणधरों ने चैत्यवन्दनादि सूत्र में उपधान की यह विधि बताई है -

सम्यक् रूप से उपधान का वहन करते समय व्यापार का निषेध किया गया है, साथ ही विकथा का विवर्जन करते हुए रौद्र ध्यान से रहित होने का निर्देश दिया गया है। उपधान काल में दिन में विश्राम नहीं करें। बालक, वृद्ध या शक्तिरहित तरुण व्यक्ति अपनी आत्मशक्ति के आधार पर उपधान के परिमाण की पूर्ति करें। उपधान में रात्रिभोजन का त्याग होता है। उपधान में रात्रिभोजन विरतिरूप द्विविधाहार, त्रिविधाहार, चतुर्विधाहार का विधिपूर्वक नवकारसी सहित आदि प्रत्याख्यान करें।

एक शुद्ध आयम्बिल का, अथवा इतर दो आयम्बिल का एक उपवास, पैंतालीस नवकारसी का एक उपवास, चौबीस पोरसी का एक उपवास, दस डेढ़ पोरसी (साढपोरसी) का एक उपवास, तीन नीवी का एक उपवास, चार एकलठाणे का एक उपवास, इसी प्रकार सोलह पुरिमड्ड का एक उपवास, चार एकासने का एक उपवास, चार एकासने का एक उपवास व आठ बियासणे का भी एक उपवास माना जाता है।

“हे भगवन् ! यदि उपधान सहित ही नमस्कार-मंत्र का ग्रहण हो, तो उपधान करते हुए ही प्रभूतकाल व्यतीत हो जाएगा और इस प्रकार से उस व्यक्ति का नवकार से रहित ही मरण होगा और नवकार से रहित मरण होने पर वह निर्वाण को कैसे प्राप्त करेगा ?”

इसलिए यह भी कहा गया है कि पहले नमस्कार-मंत्र ग्रहण कर लें बाद में उपधान हो या न हो। किन्तु, हे गौतम ! जिस समय जो प्राणी व्रतोपचार करता है, उसी समय वह भगवान की आज्ञा को शब्दशः ग्रहण कर लेता है और ऐसा जो कृत उपधानवाला है वह भवांतर में सुलभ बोधि

होता है। अध्यवसाय शुद्ध होने पर हे गौतम ! वह निश्चय ही आराधक कहा जाता है। हे गौतम ! जो इस उपधान को न करके भक्तिवान् नमस्कारमंत्र का ग्रहण करता है, उसे अगृहीत के समान ही समझना चाहिए। हे गौतम ! तीर्थकर तथा उनके वचनों की तथा संघ एवं गुरुजनों की आशातना करता हुआ वह व्यक्ति बहु संसार का अनुगामी होता है। उपधान बिना ही जिसने नमस्कारमंत्र पढ़ लिया है, ऐसे व्यक्ति को भी बाद में उपधान करने से सुलभ बोधि कहा गया है।

इस प्रकार उपधान करने वाला व्यक्ति सर्व वन्दन आदि विधियों में निपुण होता है उसे प्रथम जिनपूजा करके सूत्र में कही गई विधि के अनुसार अध्ययन करना चाहिए। उसे स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिन्दु, विरामस्थान आदि से परिशुद्ध चैत्यवन्दनसूत्र को पढ़कर उसका अर्थ जानना चाहिए। उसमें भी जहाँ सूत्र और अर्थ के विषय में किसी प्रकार की शंका हो, तो उस पर चिन्तन करके पूर्णतया शंका से रहित हो जाना चाहिए। वह शुभ तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र, योग, लग्न, अनुकूल चन्द्रबल, आदि का शोधन करके श्रेष्ठ समय में अपने सामर्थ्य के अनुरूप (निज वैभव के अनुरूप) भुवननाथ, अर्थात् परमात्मा की पूजा करके फिर भक्तिपूर्वक साधुवर्ग को दान दे (प्रतिलाभे)। यह दान भक्तिपूर्वक हर्षोल्लास के साथ श्रद्धा, संवेग, विवेक एवं परम वैराग्य से युक्त होकर एवं श्रमणगण के प्रति प्रकृष्ट राग-द्वेष, मोह एवं मिथ्यात्वरूपी मल के कलंक से रहित होकर देना चाहिए। पुनः प्रतिसमय निर्मल अध्यवसायों से अति उल्लसित होकर त्रिभुवनगुरु जिन भगवान् की प्रतिमा में अपनी दृष्टि को केन्द्रित करके, जिन वंदन से अपने को धन्य मानते हुए जीव-जन्तुओं से रहित स्थान में स्थित होकर अपने सिर पर कर-कमलों की अंजली बनाकर निःशंक भाव से सूत्र एवं अर्थ के पदों का चिन्तन करे। जिननाथ द्वारा प्रतिपादित गंभीर सिद्धांतों में कुशल, सद्चारित्र से युक्त, अप्रमत्तता आदि विविध गुणों से युक्त गुरु के सान्निध्य में, चतुर्विधसंघ सहित तथा विशेष रूप से अपने बंधु-बान्धवों सहित इस विधि में निपुण होकर जिनबिंब को वंदन करे। उसके पश्चात् परम भक्तिपूर्वक गुणवान् साधुजनों को वंदन करे और साधर्मिकों को यथायोग्य प्रणाम आदि करे। तत्पश्चात् मूल्यवान्, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ वस्त्र प्रदान करके श्री संघ का सम्मान करे। इस अवसर पर गुरु आक्षेपणी, विक्षेपणी और संवेग एवं

निर्वेदजनक—चार प्रकार की कथाओं द्वारा सुविदित गंभीर जिन—सिद्धांत का साररूप से विवेचन करे।

इस अवसर पर गुरु को कथा—ग्रन्थों के आधार पर संसार—समुद्र से पार कराने वाली, श्रद्धा एवं वैराग्य को उत्पन्न करने वाली तथा गुणों से युक्त धर्मकथा भी करनी चाहिए। श्रद्धा और वैराग्य से युक्त आचार्य को जानकर (अर्थात् प्राप्त करके) ही निपुणमति भव्यजीव उनसे चैत्यवंदन आदि क्रियाओं के लिए सूत्रों का अध्ययन करता है।

“हे देवानुप्रिय ! आपने उपधानपूर्वक अध्ययन करके अपने जीवन को सफल किया है। तुम आज से ही जीवनपर्यन्त त्रिकाल एकाग्र एवं सुस्थिर चित्त से चैत्य आदि का वंदन करना, क्योंकि क्षणभंगुर संसार में मनुष्यत्व की प्राप्ति का यही सार है। तुम प्रातःकाल में जब तक चैत्य एवं साधुओं को विधिपूर्वक वंदन न कर लो, तब तक जल भी ग्रहण मत करना। पुनः मध्याह्न में नियम से वन्दना करके भोजन करना। सांयकाल में पुनः नियम से वन्दन करके सोना।”

इन वचनों को सुनाकर इस प्रकार का अभिग्रह करवाकर गुरु वर्धमानविद्या से अभिमंत्रित वासक्षेप उस गृहस्थ के उत्तम अंग, अर्थात् सिर पर “ तुम संसार सागर पार करने वाले बनो”— ऐसा कहकर सात बार डाले। तथा यह कहे — “इस विद्या के प्रभाव से तुम अपने कार्यों को पूर्ण करते हुए संसार—समुद्र को पार करो।” चतुर्विध संघ भी — “तुम धन्य हो, सुलक्षणों से युक्त हो, तुम संसार—सागर को पार करने वाले बनो” — ऐसा कहते हुए उस पर वासक्षेप डाले।

उसके पश्चात् वह सुगंधित द्रव्य से जिनप्रतिमा की पूजा करे। तत्पश्चात् गुरु अम्लान फूलों की श्रेष्ठ मालाएँ लेकर विधिपूर्वक अपने हाथ में ग्रहण करके उसके दोनों कंधों पर शुद्ध चित्त से आरोपित करते हुए निम्न वचन कहे —

“तुमने अच्छा जन्म प्राप्त किया है, अतः तुम बहुत ही अधिक पुण्य—प्रभार का संचय करने वाले बनो। तुम्हारा नरक एवं तिर्यच गति का द्वार अवश्य ही निरुद्ध हो गया है। हे वत्स ! तुम नीच गोत्र के और अकीर्ति के बन्धकारक नहीं हो।

यह नमस्कारमंत्र तुम्हें अग्रिम जन्म में भी दुर्लभ न हो। इस पंचनमस्कारमंत्र के प्रभाव से जन्मान्तर में भी तुम जाति, कुल, रूप,

आरोग्य आदि प्रधान संपदा से युक्त रहो। दूसरे इसके प्रभाव से मनुष्य कभी भी दास, नौकर (प्रेषक), दुर्भागी, नीच और विकलेन्द्रिय नहीं होता।

हे गौतम ! यदि कोई व्यक्ति इस विधि से इस श्रुतज्ञान को पढ़कर श्रुतोक्त विधि का आचरण करे, तो चाहे वे उसी भव में उत्तम निर्वाण को प्राप्त न भी हो, तो भी वे अनुत्तर, ग्रैवेयकादि देवलोकों में चिरकाल क्रीड़ा करने के बाद उत्तम कुल में उत्कृष्ट प्रधान सर्वांग सुंदर, सर्व कलाओं में निपुण तथा लोकों के मन को आनंद देने वाले देवेन्द्र के समान ऋद्धिवंत, दया में तत्पर, दान एवं विनय से युक्त, कामभोगों से विरक्त, संपूर्ण धर्म के अनुष्ठान से, शुभ ध्यान रूपी अग्नि से चार घातीकर्मरूप ईधन को दग्ध करने वाले महासत्त्व, निर्मल केवलज्ञान, सर्वकर्ममल से रहित होकर शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं। यह निर्मल फल जानकर जो बहुत मान देने योग्य देव हैं, वे ही सूरि हैं। उनके वचन से यह उपधान महानिशीथ-सूत्र से सिद्ध करो - इस गाथा में प्रकरण-कर्ता श्रीमान् देवसूरि ने भगवान के "माणदेव सूरिस्स"- इस विशेषण द्वारा अपना भी नाम सूचन किया है।

यह उपधान की विधि है। उपधान के छः मंत्र हैं। अब उपधान की तपश्चर्या के उद्यापनरूप मालारोपण की विधि इस प्रकार है - पूर्ववत् नंदी आदि की क्रिया करें, यहाँ इतना विशेष है कि मालारोपण की यह विधि उपधान-तपश्चर्या की अवधि पूर्ण होने पर तत्काल उसी दिन, या कुछ दिनों के बाद कर सकते हैं। मालारोपण के प्रथम दिन साधुओं को अन्न-पान, वस्त्र-पात्र-वसति पुस्तक आदि का दान दें। उस दिन संघ को भोजन प्रदान करें। वस्त्रादि से संघ की पूजा करें, अर्थात् उनको वस्त्रादि दें। साथ ही उसी दिन दीक्षा के उपयुक्त शुभ तिथि, नक्षत्र, वार, लग्न होने पर उत्तम विधि से बृहत्स्नात्र द्वारा परमात्मा की पूजा करें। माता-पिता, परिवारजन साधर्मिक आदि को एकत्रित करें। फिर माला को ग्रहण करने हेतु निर्दिष्ट उचित वेष को धारण कर, जूड़ा बांधकर, उत्तरासन धारणकर, निजवर्ण के अनुसार जिन-उपवीत, उत्तरीय आदि को धारण कर तैयार किए गए प्रचुर गन्ध आदि के उपकरणों को ग्रहण करके और हाथ में अक्षत, नारियल आदि को लेकर पूर्ववत् समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करें। उसके पश्चात् गुरु को खमासमणा सूत्रपूर्वक वंदन करके कहें -

“इच्छापूर्वक आप मुझे पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध, इरियावहिश्रुतस्कन्ध,
शक्रस्तवश्रुतस्कन्ध, चैत्यस्तवश्रुतस्कन्ध, चतुर्विंशतिस्तवश्रुतस्कन्ध,

श्रुतस्तवश्रुतस्कन्ध की वाचना के अनुज्ञापन हेतु वासक्षेप करें।" फिर गुरु अभिमंत्रित वासक्षेप करे। पुनः श्रावक खमासमणा सूत्र से वंदन करके कहे - "चैत्यवंदन कराएं।" तब वर्धमान स्तुतियों सहित चैत्यवंदन कराएं। इसमें शान्तिदेवी आदि की स्तुतियाँ पूर्ववत् करें। पुनः शक्रस्तुति (शक्रस्तव), अर्हणादिस्तोत्र भी पूर्व की भांति ही बोलें। फिर उठकर "पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध एवं प्रतिक्रमण श्रुतस्कन्ध भावार्थ के ज्ञान के लिए, अरिहंत परमात्मा एवं सिद्ध परमात्मा की प्रतिमा की स्थापना के लिए और अनुज्ञापन की अनुज्ञा लेने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ - ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करें एवं कायोत्सर्ग पूर्ण करके तीन बार चतुर्विंशतिस्तव का पाठ करें। गुरु तीन बार परमेष्ठीमंत्र पढ़कर आसन पर बैठे तथा संघ एवं परिजन सहित श्रावक को निम्न उपदेश दे :-

"हे देनानुप्रिय ! आपने अपना जन्म सफल किया है। तुम आज से लेकर जीवन पर्यन्त तीनों समय एकाग्र एवं सुस्थिर चित्त से चैत्यों की वन्दना करना। क्षणभंगुर मानव शरीर का यही सार है। तुम प्रातःकाल जब तक चैत्य एवं साधुओं को विधिपूर्वक वन्दन न कर लो, तब तक जल भी मत पीना। पुनः मध्याह्न में नियम से वन्दना करके भोजन करना। सांयकाल पुनः नियम से वन्दना करके सोना, इत्यादि।"

यहाँ गुरु महानिशीथसूत्र की बीस गाथाओं की देशना देकर त्रिसंध्या, अर्थात् तीनों समय चैत्यवंदन तथा साधुवंदन का उपदेश दे। उसमें भी विशेष रूप से चैत्यवंदन करने की प्रतिज्ञा कराए। फिर वासक्षेप के चूर्ण को अभिमंत्रित कर उसे हाथ की मुट्टी में संचित करके गुरु "संसार-सागर पार करने वाले बनो"- ऐसा कहकर उसके सिर पर वासक्षेप डाले। पुनः गुरु अक्षत और वास को अभिमंत्रित करे। उस समय श्रावक सुगन्ध से वासित ताजे एवं शुद्ध श्वेत पुष्पों से गूंथी गई माला को जिन-प्रतिमा के चरणों पर रखे। आचार्य खड़े होकर अभिमंत्रित वासक्षेप को परमात्मा के चरणों में डालते हैं। फिर वहाँ स्थित साधु-साध्वी को गन्ध तथा श्रावक-श्राविकाओं को अक्षत दे। तत्पश्चात् उपधान करने वाले श्रावक नमस्कारमंत्र के अनुज्ञार्थ (अनुमति हेतु) तीन प्रदक्षिणा दें। गुरु आर्शिवाद देते हैं कि - "संसार सागर पार करने वाले बनो एवं महान् गुणों से वृद्धि करने वाले होओ", इस प्रकार कहते हुए गुरु, संघ आदि जन - "तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूरी हो गई हैं, तुम धन्य एवं पुण्यवान् हो"-

ऐसा कहते हुए उस पर वासक्षेप डालें। इसके पश्चात् श्रावक पुनः समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। फिर गुरु सहित समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। फिर गुरु संघ सहित समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। तब नमस्कारमंत्र आदि, श्रुतस्कन्धों अनुज्ञापना के लिए कायोत्सर्ग करे, उसमें चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे, फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर चतुर्विंशतिस्तव का उच्चारण करे। तत्पश्चात् माला धारण करने वाले स्वजनों के साथ प्रतिमा के आगे जाकर शक्रस्तव बोलकर "भगवान् अर्हत् मुझे अनुज्ञा दें"— यह कहकर श्रावक जिन चरणों पर पूर्व में स्थापित की गई माला को ग्रहण कर उसे अपने भाई के हाथ में रखकर नंदी के समीप जाकर गुरु से माला को अभिमंत्रित करवाए। गुरु खड़े होकर उपधान-विधि की व्याख्या करे और श्रावक खड़ा होकर उसे सुने। "परमपयपुरीपत्थि" इत्यादि मालाउपवृंहण की गाथाओं द्वारा गुरुदेशना दे। उसके बाद वह जिनप्रतिमा की पूजा करे, तत्पश्चात् अम्लान फूलों की श्रेष्ठ मालाएँ विधिपूर्वक अपने हाथ में ग्रहण कर उसे उपधानकर्ता के दोनो कंधों पर शुद्ध चित्त से आरोपित करे। फिर कहे - "निःसंदेह तुम गुरु के निम्न वचनों का वर्तन करने वाले बनो।"

"तुमने अच्छा जन्म प्राप्त किया है, अतः तुम बहुत ही अधिक पुण्य प्रभार का संचय करने वाले बनो। तुम्हारा नरक एवं तिर्यच गति का द्वार अवश्य ही निरुद्ध हो गया है। हे वत्स ! तुम नीच गोत्र और अकीर्ति के बन्धकारक नहीं हो।

यह नमस्कारमंत्र तुम्हें अग्रिम जन्म में भी दुर्लभ न हो। इस पंचनमस्कारमंत्र के प्रभाव से जन्मान्तर में भी तुम जाति, कुल, रूप, आरोग्य आदि प्रधान संपदा से युक्त रहो। दूसरे इसके प्रभाव से मनुष्य कभी भी दास, नौकर (प्रेषक), दुर्भागी, नीच और विकलेन्द्रिय नहीं होता।

हे गौतम ! यदि व्यक्ति इस विधि से इस श्रुतज्ञान को पढ़कर श्रुतोक्त विधि का आचरण करें, तो वे उसी भव में कदाचित्त उत्तम निर्वाण को प्राप्त न भी हो, तो भी वे अनुत्तर, ग्रैवेयकादि देवलोकों में चिरकाल क्रीड़ा करने के बाद उत्तम कुल में उत्कृष्ट, प्रधान सर्वांग-सुंदर, सर्व-कलाओं में निपुण तथा लोगों के मन को आनंद देने वाले देवेन्द्र के समान ऋद्धिवंत, दया में तत्पर, दान एवं विनय से युक्त, कामभोगों से विरक्त, संपूर्ण धर्म के अनुष्ठान से, शुभ ध्यान रूपी अग्नि से चार

घातीकर्मरूप ईंधन को दग्ध करने वाले महासत्त्व, निर्मल केवलज्ञान, सर्वकर्ममल से रहित होकर शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं।

इसके बाद वह अच्छे वस्त्रों को धारण किए हुए, माला पहनाने वाले अपने भाई से परमात्मा की पूजा की अनुज्ञा हेतु माला मंगवाए। उस समय सूत्र में गूँथे हुए रत्नों से युक्त माला लाए। आचार्य उस पर वासक्षेप डाले। उसके बाद उसका भाई अपने हाथों से उस उपधान करने वाले श्रावक के गले में माला पहनाए। यहाँ कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं - "वह माला पहनकर समवसरण के चारों ओर प्रदक्षिणा करता है और संघ उसके सिर पर वासक्षेप डालते हैं।" फिर पाँच शब्द छोड़कर माला पहनने वाला परमात्मा के पास जाकर परिवार सहित नाचे एवं दान दे। उस दिन गुरु उसको आयंबिल, या उपवास के प्रत्याख्यान कराए। (वर्तमान में सामान्यतः उपवास कराते हैं) फिर श्रावक परमात्मा की आरती आदि करे। फिर महान् वैभवपूर्वक श्रावक-श्राविकाएँ माला पहनने वाले को उसके घर ले जाए, वह भी अपने घर जाकर अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें वस्त्र एवं ताम्बूलादिक दे। यदि उपाश्रय (वसति) में ही नदी की रचना की हो, तो फिर समुदाय के साथ गृहचैत्य में जाए और वह माला गृहप्रतिमा के सम्मुख रखकर छः मास तक पूजा करे - यह गाथाएँ गुरु तीन बार बोलते हैं। फिर उसके कन्धे पर माला डालकर श्रावक वर्ग रात्रि में आरती, गीत, नृत्य आदि करे। उस दिन श्रावक आयम्बिल, उपवास आदि तप करे। यदि उपाश्रय में मालारोपण हुआ हो, तो संघ के साथ जिन-मंदिर जाए। चैत्यवंदन करके पुनः सबके साथ उपाश्रय में आकर मण्डली-पूजादि करे। उपधान और मालारोपण की यह विधि महानिशीथ आदि सिद्धान्त-ग्रन्थों के पाठकों द्वारा श्रुतसामायिक के रूप में मानी गई है। उन ग्रन्थों का तिरस्कार करने वाले अन्य लोगों द्वारा इसे स्वीकार नहीं किया गया है। उनके मत से तो प्रतिमावहन की विधि ही श्रुतसामायिक की विधि मानी जाती है। कुछ लोग रेशमी धागे की माला, सोने की माला, या मोती-माणिक्य से युक्त माला पहनाते हैं, तो कुछ लोग श्वेत पुष्पों की माला पहनाते हैं। यहाँ यह अपनी शक्ति के अनुसार करें - यह व्रतारोपण-संस्कार में श्रुतसामायिक-आरोपण की विधि है।

अब प्रसंग के अनुसार श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हैं - रात्रि में दो मुहूर्त शेष रहने पर उपासक को उठ जाना चाहिए। मूत्र एवं मल का त्याग करके विधि अनुसार शरीर शुद्धि करे। फिर उत्तम आसन

पर बैठकर परमेष्ठीमंत्र का जाप करे। तत्पश्चात् कुल, धर्म, व्रत एवं श्रद्धा का विचार करके तथा स्तोत्रपाठयुक्त चैत्यवन्दन करके अपने घर में, या पौषधशालादि में रहकर प्रतिक्रमणादि करे। फिर उषाकाल के समय घर में स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहनकर भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाले अरिहंत देव की पूजा करे। यहाँ परमात्मा-पूजा की विधि अर्हत्कल्प के कथनानुसार इस प्रकार है -

“गुरु के उपदेश को प्राप्त दृढ सम्यक्त्वी श्रावक जूड़ा कसकर, शुद्ध वस्त्र पहनकर, उत्तरासंग को धारण करके, अपने वर्ण के अनुसार जिन उपवीत, या उत्तरीय को धारण करके तथा मुख को वस्त्र से आवृत करके एकाग्रचित्तपूर्वक निजघर में, या बृहद् चैत्य में परमात्मा की पूजा करे।”

पूजा के लिए सर्वप्रथम जल, पत्र, फूल, अक्षत, फल, धूप, अग्नि, दीप, गन्ध आदि को पवित्र करे। इन सबको क्रमशः अभिमंत्रित कर पवित्र करने के मंत्र इस प्रकार हैं -

“ॐ आपोऽपकाया एकेन्द्रिया जीवा निरवद्यार्हत्पूजायां निर्व्यथाः सन्तु, निरपायाः सन्तु, सदगतयः सन्तु, नमोऽस्तु संघट्टनहिंसापापमर्हदर्चने” - यह जल अभिमंत्रित करने का मंत्र है।

“ॐ वनस्पतयो वनस्पतिकाया जीवा एकेन्द्रिया निरवद्यार्हत्पूजायां निर्व्यथाः सन्तु, निरपायाः सन्तु, सदगतयः सन्तु, नमोऽस्तु संघट्टन हिंसापापमर्हदर्चने” - यह पत्र, पुष्प, फल, धूप, चन्दन आदि अभिमंत्रित करने का मंत्र है।

“ॐ अग्नयोऽग्निकाया जीवा एकेन्द्रिया निरवद्यार्हत्पूजायां निर्व्यथाः सन्तु निरपायाः सन्तु, सदगतयः सन्तु, नमोऽस्तु संघट्टन हिंसापापमर्हदर्चने” - यह अग्नि, दीप आदि को अभिमंत्रित करने का मंत्र है।

पूजा की सभी वस्तुओं को वासक्षेप से तीन-तीन बार अभिमंत्रित करे। फिर पुष्प गन्ध आदि हाथ में लेकर यह मंत्र बोले -

“ॐ त्रसरूपोऽहं संसारिजीवः सुवासन सुमेधा एकचित्तो निरवद्यार्हदर्चने निर्व्यथो भूयासं निष्पापो भूयासुः निरूपद्रवा भूयासुः”

इस मंत्र से स्वयं के मस्तक पर तिलक करे एवं पुष्पादि से स्वयं के मस्तक की पूजा करे।

पुनः पुष्प अक्षत आदि हाथ में लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ पृथिव्यपृतेजोवायुवनस्पतित्रसकाया एकद्वित्रिचतुष्पंचेन्द्रियास्ति—
र्यमनुष्यनारकदेव गतिगताश्चर्तुदशरज्ज्वात्मक लोकाकशनिवासिनः इह
जिनार्चने कृतानुमोदनाः सन्तु, निष्पापाः सन्तु, निरपायाः सन्तु, सुखिनः सन्तु,
प्राप्तकामाः सन्तु, मुक्ताः सन्तु, बोधमाप्नुवन्तु।”

इस मंत्र से दसों ही दिशाओं में गन्ध, जल, अक्षत आदि निक्षेपित
करे फिर ऐसी कामना करे -

“अखिल विश्व का कल्याण हो, सभी प्राणी परोपकार में तत्पर बनें,
व्याधि, दुःख, दौर्मनस्य आदि दोष नष्ट हों और सर्व जगत् सुखी हो, सभी
निरोग (स्वस्थ्य) हों, सभी का कल्याण हो, कोई भी दुखी न हो” - यह
आर्या अनुष्टुप छन्द का पाठ है।

“ॐ भूतधात्री पवित्रास्तु अधिवासितास्तु सुप्रोषितास्तु” -

यह कहकर जल के द्वारा पहले से लीपी गई भूमि पर जल का
छिड़काव (सिंचन) करे। फिर “ॐ स्थिराय शाश्वताय निश्चलाय पीठाय
नमः”- यह मंत्र बोलकर प्रक्षालित, चंदन से लिप्त तथा स्वस्तिक से
चिन्हित पूजापट्ट की स्थापना करे।

प्रतिष्ठित बिम्ब होने पर निम्न मंत्रों के द्वारा उसके भूमि-भाग पर
जल, पट आदि की स्थापना करे।

“ॐ अत्र क्षेत्रे अत्र काले नामार्हन्तो रूपार्हन्तो द्रव्यार्हन्तो भावार्हन्तः
समागताः सुस्थिताः सुनिष्ठिताः सुप्रतिष्ठाः सन्तु।” - यह अर्हत् परमात्मा
की प्रतिमा की स्थापना विधि है। (इस मंत्र द्वारा अर्हत् परमात्मा की प्रतिमा
को स्थापित करे।)

निश्चल बिम्ब के होने पर चरण अधिवासित करे। फिर अंजलि के
अग्रभाग में पुष्प लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ नमोऽर्हद्भ्यः सिद्धेभ्यः, तीर्णेभ्यः तारकेभ्यो बोधकेभ्यः सर्वजन्तु
हितेभ्यः इहं कल्पनाबिंबे भगवन्तोऽर्हन्तः सुप्रतिष्ठिताः सन्तु।” -

यह मंत्र मौन रूप से (मन में) कहकर भगवान के चरणों पर पुष्प
चढ़ाए। पुनः जलार्द्रित पुष्पों द्वारा पूजा करके कहे, यथा “स्वागतमस्तु
सुस्थितिरस्तु सुप्रतिष्ठास्तुः”, फिर पुष्प अभिषेक के द्वारा - “अर्ध्यमस्तु
पाद्यमस्तु आचमनीयमस्तु सर्वोपचारैः पूजास्तु”- इन वचनों से पुनः
जिन-प्रतिमा पर जलार्द्रित पुष्पारोपण करे, अर्थात् चढ़ाए। फिर जल ग्रहण
करके निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं वं—जीवनं तर्पणं हृद्यं प्राणदं मलनाशनम् । जलं जिनार्चनेऽत्रैव जायतां सुख हेतवे।”

यह मंत्र बोलकर जल से प्रतिमा का अभिषेक करे और स्नान कराए। फिर चन्दन, कुंकुम, कपूर, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य हाथ में लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं—लं—इदं गन्धं महामोदं बृहणं प्रीणनं सदा । जिनार्चने च सत्कर्मसंसिद्धयै जायतां मम।”

यह कहकर विविध गन्धों का प्रतिमा पर विलेपन करे। फिर पुष्प—पत्र आदि हाथ में लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं क्षं—नानावर्णं महामोदं सर्वत्रिदशवल्लभम् जिनार्चनेऽत्र संसिद्धयैः पुष्पं भवतु में सदा” - यह कहकर पुष्पपूजा करे। फिर अक्षत ग्रहण करके निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं तं—प्रीणनं निर्मलं बल्यंमागल्यं सर्वसिद्धिदम्।”

जीवन कार्यसंसिद्धयै भूयान्मे जिनपूजने।।”

यह मंत्र बोलकर जिन प्रतिमा के चरणों पर अक्षत चढ़ाए। फिर सुपारी, जायफल आदि, या वर्तमान ऋतु में जो फल उपलब्ध हो, उसे हाथ में लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं फुं—जन्मफलं स्वर्गफलं पुण्यमोक्षफलं फलम् ।

दद्याज्जिनार्चनेऽत्रैव जिनपादाग्रसंस्थितम् ।।”

यह मंत्र बोलकर जिन प्रतिमा के चरणों के आगे फल रखकर पूजा करे। फिर धूप ग्रहण करके निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं रं—श्रीखण्डागरुकस्तूरीद्रुमनिर्याससंभवः ।

प्रीणनः सर्वदेवानां धूपोऽस्तु जिन पूजने।।”

यह मंत्र बोलकर अग्नि का धूप उत्क्षेपन करे। फिर पुष्प ग्रहण करके निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं रं—पंचज्ञानमहाज्योतिर्मयोऽयं ध्वान्तघातिने ।

द्योतनाय प्रतिमायादीपो भूयात्सदाहते ।।”

यह मंत्र बोलकर दीप के मध्य में पुष्प स्थापित करे। पश्चात् पुष्प ग्रहण करके निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अहं भगवद्भ्योऽर्हद्भ्यो जलगन्धपुष्पाक्षतफलधूपदीपैः

संप्रदानमस्तु ॐ पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्तां भगवन्तोऽर्हन्तस्त्रिलोकस्थिता नामाकृतिद्रव्यभावयुताः स्वाहा।।”

यह मंत्र बोलकर पुनः परमात्मा की पूजा करे। फिर सुगन्धित द्रव्य लेकर निम्न मंत्रपूर्वक परमात्मा के चरणों के नीचे स्थापित ग्रहों पर, या स्नानपट्ट पर वासक्षेप करे। वासक्षेप करने का मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ सूर्यसोमांगारकबुधगुरुशुक्रशनिशचरराहुकेतु प्रमुखाः ग्रहाः इह जिनपादाग्रे समायान्तु पूजां प्रतीच्छन्तु।”

फिर निम्न मंत्र बोले -

“आचमनमस्तु गन्धमस्तु पुष्पमस्तु अक्षतमस्तु फलमस्तु धूपोऽस्तु दीपोऽस्तु” - इस क्रम से जल, गन्ध, पुष्प, अक्षत, फल, धूप, दीप के द्वारा ग्रहों की पूजा करे।

फिर अंजलि के अग्रभाग में पुष्प ग्रहण करके निम्न मंत्र बोले -

“ॐ सूर्यसोमांगारकबुधगुरुशुक्रशनिशचरराहुकेतु प्रमुखा ग्रहाः संपूजिताः सन्तु सानुग्रहाः सन्तु तुष्टिदाः सन्तु पुष्टिदाः सन्तु मांगल्यदाः सन्तु महोत्सवदाः सन्तु।”

यह मंत्र बोलकर ग्रहों पर पुष्पारोपण करे।

पुनः निम्न मंत्र बोले -

“ॐ इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुकुबेरेशाननागब्रह्मणो लोकपालाः सविनायकाः सक्षेत्रपालाः इह जिनपादाग्रे समागच्छन्तु पूजां प्रतीच्छन्तु।”

यह मंत्र बोलकर पूजापट्ट के ऊपर लोकपालों पर वासक्षेप करे।

फिर “आचमनमस्तु गन्धमस्तु पुष्पमस्तु अक्षतमस्तु फलमस्तु धूपोऽस्तु दीपोऽस्तु”-

इस क्रम से जल, गन्ध, पुष्प, अक्षत, फल, धूप एवं दीप के द्वारा लोकपालों की पूजा करे।

फिर अंजलि में पुष्प लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणकुबेरेशाननागब्रह्मणो लोकपालाः सविनायकाः सक्षेत्रपालाः सुपूजिताः सन्तु, सानुग्रहाः सन्तु, तुष्टिदाः सन्तु, पुष्टिदाः सन्तु, मांगल्यदाः सन्तु, महोत्सवदाः सन्तु।”

यह मंत्र बोलकर लोकपालों पर पुष्पारोपण करे। फिर पुष्पांजलि लेकर निम्न मंत्र बोले-

अस्मत्पूर्वजा गोत्र संभवा देवगतिगताः सुपूजिताः सन्तु सानुग्रहाः सन्तु तुष्टिदाः सन्तु पुष्टिदाः सन्तु मांगल्यदाः सन्तु महोत्सवदाः सन्तु।” यह बोलकर परमात्मा के चरणों के आगे पुष्पांजलि अर्पण करे। पश्चात् पुनः पुष्पांजलि लेकर निम्न मंत्र बोले -

“ॐ अर्हं अर्हदभक्ताष्टनवत्युत्तरशतं (एक सौ अट्ठानवे) देवजातयः सदेव्यः पूजां “प्रतीच्छन्तु सुपूजिताः सन्तु सानुग्रहाः सन्तु तुष्टिदाः सन्तु पुष्टिदाः सन्तु मांगल्यदाः सन्तु महोत्सवदाः सन्तु।”

यह मंत्र बोलकर जिनप्रतिमा के चरणों के आगे पुष्पांजलि चढ़ाए। फिर अंजलि के अग्रभाग में पुष्प लेकर अर्हत् मंत्र का स्मरण करके उन पुष्पों से जिनप्रतिमा की पूजा करे।

अर्हत् मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ अर्हं नमो अरिहंताणं ॐ अर्हं नमो सयंसंबुद्धाणं, ॐ अर्हं नमो पारगयाणं” -

यह त्रिपद मंत्र श्रीमत् अर्हन् भगवंतो के आगे नित्य स्मरण करे। यह मंत्र देवलोकादि सुख और मोक्ष को देने वाला एवं सर्व पापों का नाश करने वाला है। इतना विशेष है कि अपवित्र तथा उपयोगरहित पुरुष इस मंत्र का स्मरण एवं उच्चारण न करे तथा नास्तिक एवं मिथ्यादृष्टियों को भी न सुनाए।

इस अर्हत् मंत्र का एक सौ आठ बार या चौपन बार जाप करे। तत्पश्चात् दो पात्रों में नैवेद्य रखे।

फिर एक पात्र तथा जल को हथेली में ग्रहण करके निम्न मंत्र बोले-

“ॐ अर्हं-नानाषड्रसंसंपूर्ण नैवेद्य सर्वमुत्तमम् ।

जिनाग्रे ढौकितं सर्वसंपदे मम जायताम् ॥”

यह मंत्र बोलकर प्रथम पात्र में एकत्रित नैवेद्य पर हथेली भर जल का छिड़काव करे, अर्थात् सिंचन करे। पुनः हथेली में जल लेकर निम्न मंत्र द्वारा द्वितीय पात्र के नैवेद्य के ऊपर भी हथेली भर जल का छिड़काव करे। वह मंत्र इस प्रकार है -

“ॐ सर्वे गणेशक्षेत्रपालाद्याः सर्वे ग्रहाः सर्वे दिक्पालाः सर्वेऽस्मत्त्वपूर्वजोद्भवादेवाः सर्वेऽष्टनवत्युत्तरशतं देवजातयः सदेव्योऽर्हदभक्ताः अनेन नैवेद्येन सन्तर्पिताः सन्तु सानुग्रहाः सन्तु तुष्टिदाः सन्तु पुष्टिदाः सन्तु मांगल्यदाः सन्तु महोत्सवदाः सन्तु। यह परमात्मा की पूजा विधि है।

“यो जन्मकाले पुरुषोत्तमस्य सुमेरुश्रृंगे कृत मज्जनैश्च ।

देवैः प्रदत्तः कुसुमांजलिः स ददातु सर्वाणि समीहितानि ॥१॥

राज्याभिषेक समये त्रिदशाधिपेन छत्रध्वजांक तलयोः पदयोर्जिनस्य ।

क्षिप्तोऽतिभक्तिभरतः कुसुमांजलिर्यः स प्रीणयत्वनुदिनं सुधियांमनांसि ॥२॥

देवन्द्रैः कृतकेवले जिनपतौ सानन्द भक्त्यागतैः
सन्देहव्यपरोपणक्षमशुभव्याख्यान- बुद्धाशयैः ।

आमोदान्वितपारिजात कुसुमैर्यत्स्वामिपादाग्रतो मुक्तः स प्रतनोतु
चिन्मयहृदां भद्राणि पुष्पांजलिः ॥३१॥”

इन तीनों छंदों के द्वारा तीन पुष्पांजलि दे। पुनः निम्न छंद बोले -

“लावण्यपुण्यांगभृतोऽर्हतो यस्तद्दृष्टिभावं सहसैव धत्ते ।

सविश्वभर्तुर्लवणावतारो गर्भावतारं सुधियां विहन्तु ॥२॥

लावण्यैक निधेर्विश्व भर्तुस्तद्वृद्धि हेतु कृत् ।

लवणोत्तारणं कुर्यादभवसागरतारणम् ॥२॥”

इन दो छंदों के द्वारा दो बार लवण (नमक) उतारे अर्थात् नजर उतारे। पुनः निम्न छंद बोले -

“साक्षरतां सदासक्तां निहन्तुमिव सोदयमः ।

लवणाब्धिर्लवणांबुमिषाते सेवते पदौ ॥”

यह छंद बोलकर लवण मिश्रित पानी से नजर उतारे। पुनः निम्न छंद का उच्चारण करे -

“भुवनजन पवित्रिता प्रमोद प्रणयनजीवनकारणं गरीयः ।

जलमविकलमस्तु तीर्थनाथक्रमसंस्पर्शि सुखावहं जनानाम् ॥”

इस छंद द्वारा मात्र जल का सिंचन करे एवं निम्न मंत्र बोलकर आरती उतारे -

“सप्तभीतिः विघातार्हं सप्तव्यसननाशकृत् ।

यत्सप्तनरकद्वारसप्ताररि(ति)तुलामगतम् ॥ ।

साप्तांगराज्यफलदानकृत प्रमोदं सत्सप्ततत्त्वविदनन्तकृतप्रबोधम् ।

तच्छक्रहस्तधृतसंगतसप्तदीपमारात्रिकं भवतु सप्तमसद्गुणाय ॥”

आरती उतारने के पश्चात् निम्न चार श्लोक बोले -

“विश्वत्रयभवैर्जीवैः सदैवासुरमानवैः । चिन्मंगलं श्री जिनेन्द्रात्प्रार्थनीयं
दिनेदिने ॥१॥

यन्मंगलं भगवतः प्रथमार्हतः श्री संयोजनैः प्रतिबभूव विवाह काले ।

सर्वासुरासुरवधूमुखगीयमानं सप्तर्षिभिश्च सुमनोभिरुदीर्यमाणं ॥२॥

दास्यं गतेषु सकलेषु सुरासुरेषु राज्येऽर्हतः प्रथमसृष्टिकृतो यदासीत् ।

सन्मंगल मिथुनपाणिग तीर्थवारि पादाभिषेक

विधिनात्युपचीयमानम् ॥३॥

यद्विश्वाधिपतेः समस्ततनुभृत्संसारनिस्तारणे तीर्थं,

पुष्टिमुपेयुषि प्रतिदिनं वृद्धिं गतं मंगलम् ।
तत्संप्रत्युपनीतपूजनविधौ विश्वात्मनामर्हतां,
भूयान्मंगलमक्षयं च जगते स्वस्त्यस्तु संघाय च ॥४॥”

यह चार श्लोक बोलकर मंगल दीप प्रज्वलित करे। फिर शक्रस्तव का पाठ करे। यह परमात्मा की पूजा की विधि है।

स्नात्र विधि :-

अब यदि कोई श्रावक अर्हत् परमात्मा के प्रति भक्ति-भावपूर्वक नित्य, पर्व पर, अथवा अन्य किसी अवसर पर जिनदेव की स्नात्रपूजा करना चाहता है, तो उसके लिए यह विधि बताई गई है :-

पहले स्नात्र पीठ पर पूर्व में कह गए अनुसार दिक्पाल एवं ग्रहों की पूजा छोड़कर जिनप्रतिमा की पूजा करे तथा मंगलदीपक को छोड़कर आरती उतारे। पूर्वोपचार से युक्त गुरु के समक्ष चतुर्विध संघ के मिलने पर गीत-वाद्य आदि के उत्सव के समय हाथ में पुष्पांजलि लेकर - “नमो अरिहंताणं नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः”, बोले फिर शार्दूल विक्रीडित एवं मालिनी छंद की राग में निम्न दो छंद पढ़े -

“कल्याणं कुलवृद्धिकारिकुशलंशलाघार्हमत्यद्भुतं,

सर्वाघप्रतिघातनं गुणगणालंकारविभ्राजितम् ।

कान्ति श्रीपरिरंभण प्रतिनिधिप्रख्यं जयत्यर्हतां,

ध्यानं दानवमानवैर्विरचितं सर्वार्थसंसिद्धये ॥१॥

भुवनभविकपापध्वान्तदीपायमानं परमतपरिघातप्रत्यनीकायमानम् ।

धृतिकुवलयनेत्रावश्यमंत्रायमाणं जयति जिनपतीनां

ध्यानमभ्युत्तमानाम् ॥२॥

यह छंद बोलकर पुष्पांजलि अर्पण करे। पश्चात् निम्न श्लोक बोले-

“कर्पूरसिल्हाधिककाकतुण्डकस्तूरिकाचन्दनवन्दनीयः ।

धूपो जिनाधीश्वरपूजनेऽत्र सर्वाणि पापानि दहत्वजस्रम् ॥”

इस श्लोक के द्वारा सभी पुष्पांजलियों के बीच में धूप-उत्क्षेपण और शक्रस्तव का पाठ करे। फिर जल से भरे कलश को लेकर बसन्ततिलक छंद में यह श्लोक पढ़े -

“केवली भगवानेकः स्याद्वादी मण्डनैविना ।

विनापि परिवारेण वंदितः प्रभुतोर्ज्जिते ॥१॥

तस्येशितुः प्रतिनिधि सहजश्रियाढ्यः ।

पुष्पैविनापि हि विना वसनप्रतानैः ॥

गन्धैर्विना मणिमयाभरणैर्विनापि ।

लोकोत्तरं किमपि दृष्टि सुखं ददाति ॥२॥

यह बोलकर प्रतिमा का कलश से अभिषेक करे। पुष्प, अलंकार आदि उतार दे। फिर पुनः पुष्पांजलि लेकर निम्न दो छंदो को पढ़े :-

“विश्वानन्दकरी भवाम्बुधितरी सर्वापदां कर्त्तरी,

मोक्षाध्वैकविलंघनाय विमला विद्या परं खेचरी ।

दृष्टयाभावितकल्मषापनयने बद्धप्रतिज्ञादृढा,

रम्यार्हत्प्रतिमा तनोतु भविनां सर्वं मनोवाञ्छितम् ॥१॥

परमतरमासमागमोत्थप्रसुमरहर्ष विभासिसन्निकर्षा जयति,

जगदिनस्य शस्यदीप्तिः प्रतिमा कामितदायिनी जनानाम् ॥२॥”

यह छंद बोलकर पुनः पुष्पांजलि दे। पुनः पूर्व में कहे गए छंद के द्वारा धूप उत्क्षेपन करे और शक्रस्तव का पाठ करे। अब हाथ में पुष्पांजलि लेकर पृथ्वीमन्दाक्रान्ता (छंद) रूप ये दो श्लोक पढ़े :-

“न दुःखमतिमात्रकं न विपदां परिस्फूर्जितं,

न चापि यशसां क्षितिर्न विषमा नृणां दुःस्थता,

न चापि गुणहीनता न परमप्रमोदक्षयो,

जिनार्चनकृतां भवे भवति चैव निःसंशयम् ॥१॥

एतत्कृत्यं परममसमानन्दसंपन्निदानं पाताललौकः सुरनहितं साधुभिः प्रार्थनीयम् ।

सर्वारंभोपचयकरणं श्रेयकां सन्निधानं साध्यं सर्वैर्विमलमनसा पूजनं विश्वभर्तुः ॥२॥”

यह छंद बोलकर पुष्पांजलि दे। फिर हाथ में धूप लेकर शार्दूल एवं आर्या छंद में ये दो श्लोक पढ़े :-

“कर्पूरागरूसिल्हचन्दनबलामांसीशशैलेयक,

श्रीवासद्गुमधूपरालघुसृणैरत्यन्तमामोदितः ।

व्योमस्थः प्रसरच्छशांककिरणज्योतिः प्रतिच्छादको,

धूमो धूपकृतो जगत्त्रयगुरोः सौभाग्यमुत्तंसतु ॥१॥

सिद्धाचार्यप्रभृतीन् पंच गुरुन् सर्वदेवगणमधिकम् ।

क्षेत्रे काले धूपः प्रीणयतु जिनार्चनेरचितः ॥२॥”

यह छंद बोलकर धूप उत्क्षेपन करे और शक्रस्तव का पाठ करे। पुनः पुष्पांजलि लेकर बसंततिलक एवं उपजाति छंद में निम्न श्लोक पढ़े -

“जन्मन्यनन्तसुखदे भुवनेश्वरस्य सुत्रामभिः कनकशैलशिरः
शिलायाम् ।

स्नात्रं व्यधायि विविधाबुधिकूपवापीकासारपल्वलसरित्सलिलैः
सुगन्धैः ॥१॥

तां बुद्धिमाधाय हृदीह काले स्नात्रं जिनेन्द्रप्रतिमागणस्य ।

कुर्वन्ति लोकाः शुभभावभाजो “महाजनो येन गतः स पन्थाः” ॥२॥”

यह छंद बोलकर पुष्पांजलि दे । पुनः निम्न छंद बोले :-

“परिमलगुणसारसद्गुणाद्या बहुसंसक्त परिस्फुरद्द्विरेफा ।

बहुविधबहुवर्णपुष्पमाला वपुषि जिनस्य भवत्वमोघयोगा ॥१॥”

इस छंद के द्वारा सिर से पैर तक प्रतिमा पर पुष्पारोपण करे ।

“कर्पूरसिल्हाधि.” इस छंद के द्वारा धूप उत्क्षेपन करे एवं शक्रस्तव
का पाठ करे ।

पुनः हाथ में पुष्पांजलि लेकर शार्दूल उपजाति (छंद में) निम्न
श्लोक पढ़े :-

“यः साम्राज्यपदोन्मुखे भगवति स्वर्गाधिपैर्गुफितो मंत्रित्वं
बलनाथतामधिकृतिं स्वर्णस्य कोशस्य च ।

बिभ्रद्भिः कुसुमांजलिर्विनिहितो भक्त्या प्रभोः पादयोर्दुःखौघस्य
जलांजलिः स तनुतादालोकनादेव हि ॥१॥

चेतः समाधातुमनिन्द्रियार्थं पुण्यं विधातुं गणनादव्यतीतं ।
निक्षिप्यतेऽर्हत्प्रतिमापादाग्रे पुष्पांजलिः प्रोद्गतभक्ति भावैः ॥२॥”

यह छंद बोलकर पुष्पांजलि दे । सभी पुष्पांजलियों के अन्त में
शक्रस्तव का पाठ करके धूप उत्क्षेपन करे । फिर उसके बाद पुष्प आदि से
प्रतिमा की पूजा करे । फिर स्नात्र-कलश एकत्रित करे । पश्चात् मणि,
सोना, चांदी, ताम्र, मिश्रधातु एवं मिट्टी से निर्मित कलशों को स्नात्र की
चौकी पर स्थापित करे और उनमें गंधोदक मिश्रित सर्वजलाशयों का जल
संचित करे । उन्हें चन्दन, कुंकुम, कपूर आदि सुगंधित द्रव्यों से वासित
करे । चन्दन आदि एवं फूल तथा माला के द्वारा कलशों की पूजा करे ।
जल, पुष्प आदि अभिमंत्रित करे । जलपुष्पादि अभिमंत्रित करने का मंत्र पूर्व
में कहे गए अनुसार ही हैं । तदनंतर वह श्रावक, या दूसरे अनेक श्रावक
पूर्वोक्त वेष एवं शुद्धि से युक्त होकर, हाथ में गन्ध-द्रव्य लेकर, कण्ठ में
माला धारण किए हुए उन कलशों को हाथ में उठाए तथा अपनी-अपनी

प्रज्ञा के अनुसार जिन के जन्माभिषेक से अंकित स्नात्रस्तोत्र तथा जिनस्तुति के छः पद पढ़े तत्पश्चात् शार्दूल छंद के राग में निम्न पढ़े :-

“जाते जन्मनि सर्वविष्टपपतेरिन्द्रादयो निर्जरा ।

नीत्वा तं करसंपुटेन बहुभिः सार्द्धं विशिष्टोत्सवैः ॥

शृंगे मेरुमहीधरस्य मिलिते सानंददेवीगणे ।

स्नात्रारंभमुपानयंति बहुधा कुंभांबुगंधादिकम् ॥1॥

योजनमुखान् रजतनिष्कमयान् मिश्रधातुमृद्रचितान् ।

दधते कलशान् संख्या तेषां युगषट्खदतिमिता ॥2॥

वापीकूपहृदांबुधितडागपल्वलनदीझरादिभ्यः ।

आनीतैर्विमलजलैः स्नानाधिकं पूरयंति च ते ॥3॥

कस्तूरीघनसारकुंकुममुराश्रीखंडकक्कोल्लकै- ।

र्हीबेरादिसुगंधवस्तुभिरलंकुर्वन्ति तत्सवंरम् ॥

देवेन्द्रा वरपारिजातबकुलश्रीपुष्पजातीजपा ॥

मालाभिः कलशाननानि दधते संप्राप्तहारस्रजः ॥4॥

ईशानाधिपतेर्निजांककुहरे संस्थापितं स्वामिनं ।

सौधर्माधिपतिर्मितादभुतचतुःप्रांशूक्षशृंगोदगतैः ॥

धारावारिभरैः शशांकविमलैः सिंचत्यनन्याशयः ।

शेषाश्चैव सुराप्सरस्समुदयाः कुर्वन्तिकौतूहलम् ॥5॥

वीणामृदंगतिमिलार्द्रकटाद्धनूर ।

ढक्काहुडुक्कपणवस्फुटकाहलाभिः ॥

सद्वेणुझर्झरकदुंदुभिषुषुणीभि-

र्वाद्यैः सृजति सकलाप्सरसो विनोदम् ॥6॥

शेषाः सुरेश्वरास्तत्र गृहीत्वा करसंपुटेः ॥

कलशास्त्रिजगन्नाथं स्नपयंति महामुदः ॥7॥

तस्मिन्तादृशउत्सवे वयमपि स्वर्लोकसंवासिनो ।

भ्रांता जन्मविवर्तनेन विहितश्रीतीर्थसेवाधियः ॥

जातास्तेन विशुद्धबोधमधुना संप्राप्य तत्पूजनं ।

स्मृत्यैतत्करवाम विष्टपविभोः स्नात्रं मुदामास्पदम् ॥8॥

बालत्तणम्मि सामिअ सुमेरुसिहरम्मि कणयकलसेहिं ॥

तियसासुरेहिं ण्हविओ ते धन्ना जेहिं दिट्ठोसि ॥9॥

यह श्लोक बोलकर कलशों से प्रतिमा का अभिषेक करे। इस अवसर पर सभी पुरुष एवं स्त्रियाँ बड़े एवं छोटे के क्रम से गन्धोदक द्वारा

स्नात्र करें। फिर अभिषेक के अन्त में गन्धोदक से पूर्ण कलश को लेकर निम्न वसंततिलका छंद पढ़े :-

“संघे चतुर्विध इह प्रतिभासमाने श्री तीर्थपूजनकृतप्रतिभासमाने ।
गन्धोदकैः पुनरपि प्रभवत्वजस्रं स्नात्रं जगत्रयगुरोरतिपूतधारैः ॥”

यह छंद बोलकर परमात्मा के चरणों पर कलश से अभिषेक करे एवं स्नात्र पूर्ण करे (निष्पन्न करे)।

अब पंचामृतस्नात्र, शान्तिक-पौष्टिक-विधि प्रतिष्ठा में उपयोगी होने के कारण बृहत्स्नात्र-विधि का वर्णन किया जा रहा है। आर्हत (जैन) श्वेताम्बर मत में पंचामृतस्नात्र-विधि शान्तिक आदि विधि में होती है।

प्रतिदिन गन्धोदक द्वारा ही स्नात्र करते हैं। पश्चात् पुष्पांजलि लेकर निम्न छंद पढ़े :-

“इन्द्राग्ने यम निरर्हते जलेश वायो वित्तेशेश्वर भुजगा विरंचिनाथ ।
संघद्वाधिकतमभक्तिभारभाजः स्नात्रेस्मिन् भुवनविभोः श्रियंकुरुध्वम् ॥”

यह छंद बोलकर स्नात्रपीठ के समीप निर्मित दिक्पालों की पीठ पर पुष्पांजलि अर्पण करे तथा प्रत्येक दिक्पाल की पूजा करे।

इन्द्र की पूजा के लिए निम्न शिखरिणी छंद पढ़े :-

“सुराधीश श्रीमन् सुदृढतरसम्यक्त्ववसतेशचीकान्तोपान्तस्थितिविबुध
कोट्यानतपद । ज्वलद्वज्राघातक्षपितदनुजाधीशकटक प्रभोः स्नात्रे विघ्नं हर
हर हरे पुण्यजयिनाम् ॥”

ऊँ शक्र इह जिनस्नात्रमहोत्सवे आगच्छ-आगच्छ, इदं जलं
गृहाण-गृहाण, गन्धं गृहाण-गृहाण, धूपं गृहाण-गृहाण, दीपं गृहाण-गृहाण,
नैवेद्यं गृहाण-गृहाण, विघ्नं हर-हर, दुरितं हर-हर, शान्तिं कुरु-कुरु,
तुष्टिं कुरु-कुरु, पुष्टिं कुरु-कुरु, वृद्धिं कुरु-कुरु स्वाहा ॥”

यह बोलकर पुष्प गन्ध आदि से इन्द्र की पूजा करे।

अग्नि की पूजा के लिए निम्न व्यपच्छंदसिक छंद पढ़े :-

“बहिरन्तरनन्ततेजसा विद्धत्कारणकार्यसंगतिमः ।

जिनपूजन आशुशुक्षणे कुरु विघ्नप्रतिघातमंजसा ॥

“ऊँ अग्ने इह०”- शेष पूर्ववत् पढ़े ।

यम की पूजा के लिए निम्न वसंततिलका छंद पढ़े :-

“दीप्तांजनप्रभतनो ततु सन्निकर्षं वाहारिवाहन समुद्धुर दण्डपाणे ।

सर्वत्र तुल्य करणीय करस्थधर्म कीनाश नाशय विपद्विसरं क्षणेऽत्र ॥

“ऊँ यम इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

निर्ऋते की पूजा के लिए निम्न आर्या छंद पढ़े :-

“राक्षसगणपरिवेष्टितचेष्टितमात्रप्रकाशहतशत्रो ।

स्नात्रोत्सवेऽत्र निर्ऋते नाशय सर्वाणि दुःखानि ॥

“ॐ निर्ऋते इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

वरुण की पूजा के लिए निम्न अग्धरा छंद पढ़े :-

“कल्लोलानीतलोलाधिककिरणगणस्फीतरत्नप्रपंच ।

प्रोदभूतौर्वाग्निशोभं वरमकरममहापृष्टदेशोक्तमानम् ॥

चंचच्चीरिल्लि श्रृंगिप्रभृतिझषगणैरर्चितं वारुणं गो ।

वर्षच्छिद्यदादपायं त्रिजगदधिपतेः स्नात्रसत्रे पवित्रे ॥१॥

“ॐ वरुण इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

वायु की पूजा के लिए निम्न मालिनी छंद पढ़े :-

“ध्वजपटकृतकीर्तिस्फूर्तिदीप्यद्विमान ।

प्रसृमरबहुवेगत्यक्त सर्वापमान ॥

इह जिनपतिपूजासंनिधौ मातरिश्व-

न्नपनय समुदायं मध्यबाह्यातपानाम् ॥

“ॐ वायो इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

कुबेर की पूजा के लिए निम्न बसंततिलका छंद पढ़े :-

“कैलासवासविलसत्कमलाविलास ।

संशुद्धहासकृतदौस्थ्यकथानिरास ॥

श्रीमत्कुबेर भगवन् स्नपनेऽत्र सर्व ।

विघ्नं विनाशय शुभाशय शीघ्रमेव ॥

“ॐ कुबेर इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

ईशान की पूजा के लिए निम्न बसंततिलका छंद पढ़े :-

“गंगातरंग परिखेलनकीर्णवारिप्रोद्यत्कपर्दपरिमण्डित पार्श्वदेशम् ।

नित्यं जिनस्नपनहृष्टहृदः स्मरारे विघ्नं निहन्तु सकलस्य
जगत्त्रयस्य ॥

“ॐ ईशान इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

नाग की पूजा के लिए निम्न वैतालीय छंद पढ़े :-

“फणिमणिमहसा विभासमानाः कृतयमुनाजलसंश्रयोपमानाः ।

फणिन इह जिनाभिषेककाले- बलिभवनादमृतं समानयन्तु ॥

“ॐ नाग इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

ब्रह्म की पूजा के लिए निम्न द्रुतविलंबित छंद पढ़े :-

“विशदपुस्तकशस्तकरद्वयः प्रथितवेदतया प्रमदप्रदः ।
भगवतः स्नपनावसरे चिरं हरतु विघ्नभरं द्रुहिणो विभुः ॥

“ॐ ब्रह्मन् इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

इस क्रम से दिक्पालों की पूजा करे। पश्चात् पुनः हाथ में पुष्पांजलि लेकर निम्न आर्या छंद पढ़े :-

“दिनकरहिमकरभूसुत शशिसुतबृहतीशकाव्यरवितनयाः ।
राहो केतो सक्षेत्रपाल जिनस्यार्चने भवत सन्निहिताः ॥”

यह छन्द बोलकर ग्रहपीठ पर पुष्पांजलि अर्पण करे। फिर पूर्व आदि क्रम से सूर्य, शुक्र, मंगल, राहु, शनि, चन्द्र, बुध, बृहस्पति की स्थापना करे। नीचे केतु एवं ऊपर क्षेत्रपाल की स्थापना करे।

फिर सूर्य की पूजा के लिए निम्न बसंततिलका छंद पढ़े :-

“विश्वप्रकाशकृतभव्यशुभावकाश ।

ध्वान्तप्रतानपरिपातनसद्विकाश ॥

आदित्य नित्यमिह तीर्थकराभिषेके ।

कल्याणपल्लवनमाकलय प्रयत्नात् ॥

“ॐ सूर्य इह०”- शेष पूर्वानुसार बोले ।

शुक्र की पूजा के लिए निम्न मालिनी छंद पढ़े :-

“स्फटिक धवलशुद्धध्यानविघ्नस्तपाप ।

प्रमुदितदितिपुत्रोपास्यपादारविन्द ॥

त्रिभुवनजनशश्वज्जन्तुजीवानुविद्य ।

प्रथय भगवतोऽर्चा शुक्र हे वीतविघ्नम् ॥

“ॐ शुक्र इह०”- शेष पूर्वानुसार बोले ।

मंगल की पूजा के लिए निम्न आर्या छंद पढ़े :-

“प्रबलबलमिलितबहुकुशललालनाललितकलितविघ्नहते ।

भौमजिनस्नपनेऽस्मिन् विघटय विघ्नागमं सर्वम् ॥

“ॐ मंगल इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

राहु की पूजा के लिए निम्न छंद बोले :-

“अस्तांहः सिंह संयुक्तरथ विक्रममंदिर ।

सिंहिकासुत पूजायामत्र सन्निहितो भव ॥

“ॐ राहो इह०”- शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

शनि की पूजा के लिए निम्न छंद बोले :-

“फलनीदलनील लीलयान्तः स्थगितसमस्तवरिष्ठ विघ्नजात ।

रवितनय प्रबोधमेतात् जिनपूजाकरणैकसावधानान् ॥

“ॐ शने इह०”— शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

चन्द्र की पूजा के लिए निम्न द्रुतविलंबित छंद बोले :-

“अमृतवृष्टिविनाशितसर्वदोषचितविघ्नविषः शशलांछनः ।
वितनुतां तनुतामिह देहिनां प्रसृततापभरस्य जिनार्चने ॥

“ॐ चन्द्र इह०”— शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

बुध की पूजा के लिए निम्न छंद बोले :-

“बुधविबुधगणर्चितांघ्रियुग्म प्रमथितदैत्य विनीतदुष्टशास्त्र ।
जिनचरणसमीपगोऽधुनात्वं रचय मतिं भवधातनप्रकृष्टाम् ॥

“ॐ बुध इह०”— शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

गुरु की पूजा के लिए निम्न छंद बोले :-

सुरपतिहृदयावतीर्णमंत्रप्रचुरकलाविकलप्रकाश भास्वन् ।
जिनपतिचरणाभिषेककाले कुरु बृहतीवर विघ्नविप्रणाशम् ॥

“ॐ गुरो इह०”— शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

केतु की पूजा के लिए निम्न द्रुतविलंबित छंद बोले :-

“निजनिजोदययोगजगत्त्रयी कुशलविस्तरकारणतां गतः ।
भवतु केतुरनश्वरसंपदा सतत हेतु वारित विक्रमः ॥

“ॐ केतो इह०”— शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

क्षेत्रपाल की पूजा के लिए निम्न आर्या छंद बोले :-

“कृष्णसितकपिलवर्णप्रकीर्णकोपासितांघ्रियुग्म सदा ।

श्री क्षेत्रपाल पालय भविकजनं विघ्नहरणेन ॥

“ॐ क्षेत्रपाल इह०”— शेष पूर्वानुसार पढ़े ।

यह ग्रहों एवं क्षेत्रपाल की पूजा विधि है । प्रतिष्ठा, शान्तिक-पौष्टिक कर्म में उपयोगी होने के कारण विद्यादेवी, शासन के यक्ष, यक्षिणी, सुरलोक के अधिपति के पूजन की विधि बृहत्स्नात्र-विधि में बताई गई है । उसके बाद पूर्व में कहे गए मंत्रों के द्वारा जिनप्रतिमा की गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप से पूजा करे । फिर हाथ में वस्त्र लेकर निम्न छंद बसंततिलका राग में पढ़े :-

“त्यक्ताखिलार्थवनितासुतभूरिराज्यं निःसंगतामुपगतो जगतामधीशः ।

भिक्षुर्भवन्नपि स वर्ष्मणि देवदूष्यमेकं दधाति वचनेन सुरासुराणाम् ॥”

यह छंद बोलकर वस्त्र पूजा करे । (यह वस्त्रपूजा की विधि है)

फिर नानाविध खाद्य प्रदार्थ, पेय पदार्थ, चूष्य पदार्थ, लेह्य पदार्थ से युक्त नैवेद्य को दो पात्र में रखे। एक पात्र जिन प्रतिमा के आगे रखकर निम्न श्लोक पढ़े :-

सर्वप्रधानसद्भूतं देहि देहि सुपुष्टिदं ।

अन्नं जिनाग्रे रचितं दुखं हरतु नः सदा ॥”

यह श्लोक बोलकर हथेली भर जल के द्वारा प्रतिमा के आगे नैवेद्य अर्पित करे। फिर द्वितीय पात्र रखकर निम्न श्लोक पढ़े :-

“भो भोः सर्वग्रहा लोकपालाः सम्यग्दृशः सुराः ।

नैवेद्यमेतद् गृहन्तु भवन्तो भयहारिणः ॥

यह श्लोक बोलकर ग्रह एवं दिक्पालो को हथेली भर जल के द्वारा नैवेद्य अर्पित करे।

लेप से निर्मित जिन प्रतिमा को स्नान कराए बिना इसी मंत्र से नैवेद्य अर्पित करे। फिर आरती और मंगलदीपक पूर्व में कहे गए अनुसार करे और शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् अगर प्रतिमा स्थिर है, तो उसी को स्नान कराए तथा उसकी सम्पूर्ण विधि भी वही करे।

“श्रीखण्डकर्पूरकुरंगनाभिप्रियंगुमांसीनखाकाकतुण्डैः ।

जगत्त्रयस्याधिपतेः सपर्याविधौविदध्यात्कुशलानि धूपः ॥

इस छंद के द्वारा सर्व पुष्पांजलि दे। बीच-बीच में धूप उत्क्षेपण और शक्रस्तव का पाठ करे। प्रतिमा का विसर्जन निम्न छंद बोलकर करे-

“ॐ अहं नमो भगवते अर्हते समये पुनः पूजां प्रतीच्छ स्वाहा”

इस प्रकार पुष्प चढ़ाते हुए प्रतिमा का विसर्जन करे। फिर निम्न छंद से दिक्पाल आदि का विसर्जन करे -

“ॐ ह्रः इन्द्रादयोलोकपालाः, सूर्यादयो ग्रहाः, सक्षेत्रपालाः, सर्वदेवाः सर्वदेव्यः पुनरागमनाय स्वाहा”

इस प्रकार पुष्पपूजा आदि के द्वारा दिक्पाल एवं ग्रहों को विसर्जित करे। फिर निम्न छंद बोले :-

“आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मंत्रहीनं च यत्कृतम् ।

तत्सर्वं कृपया देवाः क्षमन्तु परमेश्वराः ॥१॥

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।

पूजां चैव न जानामि त्वमेव शरणमं मम ॥२॥

कीर्तिं श्रियो राज्य पदं सुरत्वं न प्रार्थये किंचन देव देव ।

मत्प्रार्थनीयं भगवन् प्रदेयं स्वदासतां मां नय सर्वदापि” ॥३॥

इस प्रकार सर्व करणीय कार्यों के अन्त में जिनप्रतिमा एवं देवादि के विसर्जन की यह विधि बताई गई है। अर्हत् अर्चना की विधि में भी विसर्जन की विधि इसी प्रकार से है। यह लघुस्नात्र की विधि है।

फिर देवगृह में जाकर स्तोत्र एवं शक्रस्तव आदि के द्वारा स्तुति करके परमात्मा की पूजा कर आज क्या प्रत्याख्यान लेना है, इसका विचार करे। चैत्य की प्रदक्षिणा कर एवं उपाश्रय में जाकर बुद्धिमान पुरुष आनंदपूर्वक देवों की तरह ही साधुओं को भी नमस्कार करे एवं उनकी पूजा, अर्थात् भक्ति करे।

उनके मुख से एकाग्रचित्त होकर धर्मदेशना को भलीभाँति सुने। फिर बाद में प्रत्याख्यान करके, गुरु को नमस्कार कर धन का अर्जन करे। कर्मादानों का त्याग कर यथास्थान उपयुक्त आचरण करे। सभी पूजादि की विधियाँ एवं व्रतबन्ध आदि की क्रियाएँ शास्त्र में बताए अनुसार करे। प्राण का नाश होने पर भी कुत्सित कर्म का आचरण न करे। फिर घर में अर्हत् परमात्मा की पूजा करे। साधुओं को भक्तिपूर्वक आहार-पानी देकर उनकी भक्ति करे। आगत अतिथियों का भी सत्कार करे। दीनों (याचकों) को संतुष्ट करके, व्रत एवं कुल के लिए उचित हो, ऐसा भोजन करे।

साधुओं को आमन्त्रित करने का मंत्र इस प्रकार है :- खमासमणा सूत्रपूर्वक वंदन कर गृहस्थ कहे - "प्रासुक तथा इच्छित भोजन लेने हेतु हे भगवन् ! मेरे घर पर कृपा करें।" भोजन करने के पश्चात् गुरु की निश्रा में शास्त्र का विचार करे, पढ़े, सुने। तत्पश्चात् धन उपार्जन करके घर जाए तथा संध्या-पूजा करके सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व निजवांछित भोजन करे। शाम को उपाश्रय में सामायिक करके प्रतिक्रमण करे। फिर स्वयं के घर में आकर शान्तचित्त श्रावक रात्रि का चौथाई भाग व्यतीत होने के समय अर्हत्स्तव आदि पढ़कर एवं प्रायः ब्रह्मचय-व्रत को ग्रहण करके सुखपूर्वक सोए। निद्रा के अन्त में, अर्थात् प्रातःकाल में परमेष्ठीमंत्र के स्मरणपूर्वक जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के चरित्र का विशेष चिन्तन करे। अपनी इच्छा के अनुरूप मनोरथ एवं व्रतादि को ग्रहण करे। इस प्रकार दिन-रात की चर्या का आचरण प्रमादरहित होकर करे। यथावत् अर्थात् जिस प्रकार शास्त्र में कथित है, उस प्रकार व्रत में स्थित श्रावक विशुद्ध होता है। यह व्रतारोपण-संस्कार में गृहस्थ के दिन-रात की चर्या का वर्णन है।

ऐसे गुरु जिनका शरीर सुडौल हो तथा जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली हो एवं जिनकी उपस्थिति से चतुर्विध संघ का हर्षोल्लास बढ़ता हो - व्रतारोपण हेतु आवश्यक है। गुरु की सामग्री वासक्षेप है। श्रेष्ठ पुष्प, गंध, अक्षत, फल, जल, नैवेद्य, धूप, दीप - ये आठ वस्तुएँ अष्टकर्म को नष्ट करने हेतु एवं जिनपूजा में आवश्यक है।

आचार्य श्री वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में गृहिधर्म के व्रतारोपण-संस्कार की यह विधि प्रतिपादित की है।

-----00-----

// सोलहवां उदय //

अन्त्य संस्कार

श्रावकों की आचारविधि के अनुसार व्यक्ति को व्रतों का पालन करते हुए जीवन का अन्तिम समय आने पर श्रेष्ठ संलेखना व्रत की आराधना करना चाहिए। उसकी विधि निम्न है -

परमात्मा के कल्याणकों के स्थानों पर, या वन में, या पर्वत पर जीव-जन्तु से रहित, बंजर विशुद्ध भूमि पर, या अपने घर में योग्य स्थान पर आमरण अनशन करे और गुरु उस शुभ स्थान पर ग्लान को मृत्युपर्यन्त आराधना कराए।

अवश्यम्भावी मृत्यु के निकट आने पर, अर्थात् ऐसा ज्ञान होने पर तिथि, वार, नक्षत्र, चन्द्रबल आदि का विचार न करे, वहाँ संघ को एकत्रित करके गुरु (साधु भगवत) उस ग्लान को, जिस प्रकार सम्यक्त्व-आरोपण के समय नंदी आदि की विधि बताई गई है, उसी विधि से नंदीक्रिया कराए। यहाँ इतना विशेष है कि सर्व नंदी, देववंदन, कायोत्सर्गादि की पूर्वोक्त विधि में (सम्यक्त्व-आरोपण के स्थान पर) "संलेहणा आराहणा" का उच्चारण करे। वैयावृत्यकर आराधनार्थ कायोत्सर्ग के बाद में "मैं आराधना देवता के आराधन हेतु कायोत्सर्ग करता हूँ"- ऐसा कहकर कायोत्सर्ग करने के लिए "अन्नत्थसूत्र" बोले। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चार बार चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके आराधना देवता की निम्न स्तुति बोले -

"यस्याः सांनिध्यतो भव्या वाच्छितार्थप्रसाधकाः ।

श्रीमदाराधनादेवी विघ्नव्रातापहास्तु वः ॥" शेष पूर्ववत् बोले।

फिर गुरु पूर्वोक्त विधि के अनुसार सम्यक्त्व दण्डक एवं द्वादश व्रतों का उच्चारण कराए और उसी प्रकार वासक्षेप, कायोत्सर्ग आदि की सभी क्रिया करे, परंतु उसमें 'संलेहणा आराहणा' शब्द का उच्चारण करे। संलेखना में प्रदक्षिणा आदि ग्लान की शक्ति के अनुसार करवाते हैं, या नहीं भी करवाते हैं। नियमों को ग्रहण कराते समय "यावत् नियम पर्यन्त" के स्थान पर "यावत् जीवन पर्यन्त" यह कहे। सर्व जीवों से अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना करे। फिर श्रावक परमेष्ठीमंत्र के उच्चारणपूर्वक गुरु के सामने हाथ जोड़कर कहे - "मैं सब जीवों से

क्षमायाचना करता हूँ। सब जीव, प्राणी मुझे क्षमा करें, सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ मेरा वैर या शत्रुता नहीं है।" फिर गुरु कहते हैं - "सदैव क्षमायाचना करो, क्योंकि जो क्षमायाचना करता है, उसी की आराधना सम्यक् होती है। जो क्षमायाचना नहीं करता है, उसकी आराधना सम्यक् नहीं होती है।" फिर श्रावक गुरु को वन्दन करके कहता है -

"हे भगवन् ! मुझे क्षमायाचना हेतु आज्ञा प्रदान करें।" गुरु कहते हैं - "मैं आज्ञा देता हूँ।" श्रावक परमेष्ठीमंत्र का पाठ करते हुए कहे - "अनंत भवों में भ्रमण करते हुए मैंने जो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि के एकेन्द्रिय सूक्ष्म या बादर (स्थूल), अथवा पर्याप्त या अपर्याप्त जीवों का क्रोध, मान, माया या लोभवश अथवा पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत हो, राग या द्वेषपूर्वक घात किया हो, उन्हें पीड़ित किया हो, तो उस दुष्कृत के लिए मैं मन, वचन, काया से आलोचना करता हूँ। उन सब जीवों से मैं अपने दुष्कृतों की क्षमा मांगता हूँ।" पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर कहे - "अनंत भवों में भ्रमण करते हुए मेरे द्वारा जो सूक्ष्म या बादर द्वीन्द्रिय जीवों का शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र को बोलकर - "अनंत भव-भ्रमण में मेरे द्वारा जो सूक्ष्म या बादर त्रेन्द्रिय जीवों का शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र पढ़कर - "अनंत भव-भ्रमण में मेरे द्वारा जो सूक्ष्म या बादर चतुरिन्द्रिय जीवों का शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र को बोलकर - "अनंत भवों में भ्रमण करते हुए मेरे द्वारा जो पंचेन्द्रिय देव, मनुष्य, नारक या तिर्यच योनि के जलचर, थलचर या खेचर जीवों को, अथवा संज्ञी या असंज्ञी तथा सूक्ष्म या बादर जीवों का शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र पढ़कर श्रावक कहे - "अनंत भवों में भ्रमण करते हुए मैंने क्रोध, मान, माया या लोभ से, या पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होकर, अथवा राग या द्वेष के वश जो झूठ बोला हो, तो उसके लिए मैं मन, वचन, काया से आलोचना करता हूँ।" पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर - "अनंत भव भ्रमण में मैंने क्रोध से, या मान से अदत्त का ग्रहण शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर कहे - "अनंत भवों में भ्रमण करते हुए मैंने जो रागादि के वशीभूत हो देव, मनुष्य, तिर्यच योनि में मैथुन का सेवन शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर - "अनंत भवों में मैंने जो अट्टारह पाप स्थानक का सेवन शेष पूर्ववत् बोले। पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर कहे - "मैंने जो पृथ्वीकाय शिला,

पत्थर, पृथ्वी-समूह, रेती, मणि स्वर्णादि महाधातु रूप शरीर को, प्राणवध के स्थान पर, प्राणी संचलन के स्थान पर, प्राणी को पीड़ा हो ऐसे स्थान पर, पापवर्धक तथा मिथ्यात्व का पोषण होता हो, ऐसे स्थानों पर संलग्न किया हो, तो उस दुष्कृत की मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति अपने ममत्व का त्याग करता हूँ। जो मैंने पृथ्वीकाय के - शिला, पत्थर आदि पृथ्वीकाय समूह को, रेती, मणि आदि को सोनादि महाधातुरूप शरीर को अरिहंत बिम्बों में, धर्मस्थानों पर, जंतुओं के रक्षा के स्थानों पर, धर्म के उपकरणों में उपयोग किया हो, तो उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ, बहुमान करता हूँ।”

पुनः परमेष्ठीमंत्र पढ़कर कहे - “जो मैंने अप्काय के जीवों यथा - जल, ओले का पानी, धुअर का पानी, ओस का पानी, बर्फ का पानी, वनस्पति पर स्थित बूंद के पानी रूप शरीर को, प्राणियों के वध के स्थान पर, प्राणियों के संचलन के स्थान पर, प्राणियों को पीड़ा हो, ऐसे स्थान पर पाप का वर्धक एवं मिथ्यात्व का पोषण होता हो, ऐसे स्थानों पर संलग्न किया हो, तो उसके लिए मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ। जो मैंने अप्काय के जीवों यथा - जल, ओले का पानी, धुअर का पानी, ओस का पानी, बर्फ का पानी, वनस्पति पर स्थित बूंद के पानी रूप शरीर को अरिहंत चैत्यों में, अरिहंत बिम्बों में, धर्मस्थानों में, जंतुओं के रक्षा के स्थानों पर, धर्म के उपकरणों में परमात्मा का अभिषेक करने में, तृषादाह का शमन करने में संयुत किया हो तो उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ, बहुमान करता हूँ।” पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर कहे - “जो मैंने तेजस्काय यथा - अग्नि, अंगारों की अग्नि, भोभर की अग्नि, ज्वालाओं की अग्नि, जलती हुई लकड़ी की अग्नि, विद्युत आदि की अग्नि, उल्कापात की अग्नि आदि के तेजस्वरूप शरीर को, प्राणी-वध के स्थान पर, प्राणी-संचलन के स्थान पर, प्राणियों को पीड़ा हो, ऐसे स्थान पर, जहाँ पापवर्धक एवं मिथ्यात्व का पोषण होता हो, ऐसे स्थानों में योजित किया हो, तो उसके लिए मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, उसके प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ। जो मैंने तेजस्काय - अग्नि, अंगारों की अग्नि, भोभर की अग्नि, ज्वालाओं की अग्नि, जलती हुई लकड़ी की अग्नि, विद्युत की अग्नि, उल्कापात की अग्नि, तेजस्वरूप शरीर को शीतोपचार करने में, परमात्मा की धूप-पूजा करने में, नैवेद्य बनाने में,

क्षुधा शान्त करने के लिए तथा आहार बनाने में उपयोग किया हो, तो उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ, बहुमान करता हूँ।”

पुनः परमेष्ठीमंत्र बोलकर कहे - “जो मैंने वायुकाय जीवों के वायु, प्रचण्ड वायु रूप शरीर को प्राणी-वध के स्थान पर, प्राणी संचलन के स्थान पर, प्राणी को पीड़ा हो, ऐसे स्थान पर एवं पापवर्धक तथा मिथ्यात्व का पोषण होता हो, ऐसे स्थानों में योजित किया हो, तो उसके लिए मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, एवं उसके प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ। जो मैंने वायुकाय के - वायु, प्रचण्ड वायु रूप शरीर को प्राणी की रक्षा करने में, प्राणी को जिलाने में, साधुओं की वैयावृत्त में, धार्मिक कार्यों में उपयोग किया हो, तो उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ, बहुमान करता हूँ।”

पुनः परमेष्ठीमंत्र पढ़कर कहे - जो मैंने वनस्पतिकाय के मूल, काष्ठ, छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज, रस एवं थड - रूप शरीर को प्राणी-वध के स्थान पर, प्राणियों के संचलन के स्थान पर, प्राणियों को पीड़ा हो, ऐसे स्थान पर, पापवर्धक एवं मिथ्यात्व का पोषण होता हो, ऐसे स्थानों में संलग्न किया हो, तो उसके लिए मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, एवं उसके प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ। जो मैंने वनस्पतिकाय के - मूल, काष्ठ, छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज, रस एवं थड रूप शरीर को क्षुधा शान्त करने में, अरिहंत प्रतिमा की पूजा में, धर्मस्थानों में, नैवेद्य करने में, जंतुओं की रक्षा करने में उपयोग किया हो, तो उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ, बहुमान करता हूँ।

पुनः परमेष्ठीमंत्र पढ़कर कहे - जो मैंने त्रसकाय जीवों के रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, चर्म, रोम, नख, नाड़ी आदि से युक्त शरीर को प्राणियों के वध के स्थान पर, प्राणियों के संचलन के स्थान पर, प्राणियों को पीड़ा हो, ऐसे स्थान पर, पाप वर्धक एवं मिथ्यात्व का पोषण हो, ऐसे स्थानों पर रखा हो, तो उसके लिए मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उस कर्म के प्रति ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ। जो मैंने त्रसकाय जीवों के रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, चर्म, रोम, नख आदि से युक्त मृत शरीर का अरिहंत चैत्यों में, अरिहंत बिम्बों में, धर्मस्थानों में, जंतुओं की रक्षा करने के स्थानों में, धर्म के उपकरणों में उपयोग किया हो, तो उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ, बहुमान करता हूँ।

पुनः परमेष्ठीमंत्र पढ़कर कहे - "जो मैंने यहाँ इस भव में मन, वचन, काया से दुष्चिंतन किया हो, बुरा कहा हो, बुरा किया हो, उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ। जो मैंने यहाँ इस भव में मन, वचन, काया से शुभ चिंतन किया है, शुभ वचन कहे हैं तथा जो श्रेष्ठ प्रवृत्ति की है, उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ।

इसके पश्चात् यदि पहले सम्यक्त्व व्रत का आरोपण किया हुआ हो, तो भी पुनः इस क्रिया के अन्त में सम्यक्त्व-व्रत का आरोपण करे। जिसको पूर्व में श्रावक के व्रतों का आरोपण किया हुआ है, उसको पहले उन व्रतों के एक सौ चौबीस अतिचारों की आलोचना करनी होती है। इन अतिचारों का वर्णन आवश्यक विधि के प्रसंग में होगा और उनकी आलोचना की विधि प्रायश्चित्त-विधि के प्रसंग में वर्णित की जाएगी।

फिर गुरु पूरे संघ के साथ ग्लान के सिर पर वासक्षेप एवं अक्षत आदि डाले। फिर क्षमापना करे। संलेखना लेने वाला ग्लान खमासमणासूत्र एवं परमेष्ठीमंत्र का उच्चारण करके कहे - "आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक कुल एवं गण के प्रति मैंने जो कुछ कषाय किए हों, उन सबकी मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ।"

जो मैंने चारगति के देव, तिर्यच, मनुष्य एवं नारक के पूर्व भवों में, या इस भव में चार कषायों को उपशान्त करने वाले और पाँच इन्द्रियों को वश में करने वालों का मन, वचन और काया के माध्यम से मन दुखाया हो, उन्हें संतापित किया हो, उन्हें अभितापित किया हो, उसकी मैं आलोचना करता हूँ और यदि उन्होने मुझे सन्तप्त किया हो, अभितापित किया हो, तो मैं भी उनको क्षमा करता हूँ। "फिर गुरु उस साधक को क्षमायाचना सम्बन्धी तीन गाथाओं पर विस्तार से व्याख्यान दे। फिर ग्लान साधक गुरु, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका प्रत्येक से क्षमायाचना करे। गुरु को वस्त्रादि का दान करे और संघ की पूजा करे। यह अन्तिम संस्कार-विधि में क्षमापना की विधि है।

अब ग्लान मृत्युकाल के निकट आने पर पुत्रादि द्वारा सभी मन्दिरों में पूजा, स्नात्र, ध्वजारोपण आदि करवाए, मन्दिरों एवं धर्मस्थानों में वित्त का विनियोग करवाए। फिर परमेष्ठीमंत्र के उच्चारणपूर्वक बोले - "सर्वकाल में तथा मेरी जानकारी के अनुसार जिन-जिन स्थानों पर मैंने परमात्मा की आशातना की है, उन सब की आलोचना करने के लिए मैं

उपस्थित हुआ हूँ। क्योंकि छद्मस्थ (घातिकर्म सहित) मूढ़ मन वाला यह जीव किंचित मात्र का स्मरण कर सकता है, सब नहीं, अतः जो मुझे स्मरण है, उनकी तथा जो स्मरण नहीं हो रहे हैं, उन सब दुष्कृत्यों की मैं आलोचना करता हूँ। मैंने मन से जो-जो अशुभ चिंतन किया हो, वचन से जो-जो अशुभ बोला हो तथा काया से जो-जो अशुभ व्यापार किया हो, तो उसकी आलोचना करता हूँ" - यह ग्लान का पाठ है। फिर वह नमस्कारमंत्र के पठनपूर्वक कहे :-

"चार मंगल हैं - अरिहंत मंगल है, सिद्ध मंगल है, साधु मंगल है और केवली प्ररूपित धर्म मंगल है।

लोक में चार उत्तम हैं - अरिहंत लोकोत्तम है, सिद्ध लोकोत्तम है, साधु लोकोत्तम है और केवली प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है।

मैं चार शरण स्वीकार करता हूँ - अरिहंत की शरण स्वीकार करता हूँ, सिद्ध की शरण स्वीकार करता हूँ, साधु की शरण स्वीकार करता हूँ और केवली प्ररूपित धर्म की शरण अंगीकार करता हूँ।"

फिर गुरु के कथनानुसार निम्न अटारह पापस्थानकों का त्याग करे। "मैं प्राणातिपात (जीवहिंसा) का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं मिथ्या कथन, अर्थात् मृषावाद का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं अदत्तादान (चोरी) का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं मैथुन (विषयभोग) का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं परिग्रह का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं क्रोध का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं मान का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं माया का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं लोभ का सर्वथा त्याग करता हूँ। मैं राग-द्वेष का सर्वथा त्याग करता हूँ। इसी प्रकार सर्व पापस्थान यथा - कलह, अभ्याख्यान, अरति-रति, पैशुन्य (चुगली करना), परपरिवाद, मायामृषावाद, मिथ्यादर्शनशल्य इत्यादि अटारह पापस्थानों का अभी दो योग और तीन करण से मैं त्याग करता हूँ तथा अपने जीवन की अन्तिम श्वास में इन सबका तीन योग एवं तीन करण से त्याग करता हूँ।"

फिर गीतार्थ गुरु योगशास्त्र के पंचम प्रकाश का और कालप्रदीप का वाचन करे, अथवा समाधिमरण से सम्बन्धित अन्य सत्शास्त्रों का वाचन करे। फिर ग्लान की आयु क्षीण होती जानकर संघ की, उसके सम्बन्धियों की एवं राजा की अनुमति लेकर यावज्जीवन अनशन का उच्चारण कराए। ग्लान शक्रस्तव और तीन बार परमेष्ठीमंत्र पढ़कर गुरुमुख से निम्न प्रतिज्ञा का उच्चारण करे -

"भवचरिमं पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं, असणं खाइमं साइमं
अन्नत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं महत्तरागारेणं सब्वसमाहिवत्तियागारेणं
वोसिरामि।"

यह कहकर आगारसहित अनशन ग्रहण करे। फिर अन्तिम समय में आगाररहित अनशन ग्रहण करे। वह पाठ इस प्रकार है :-

“भवचरिमं निरागारं पच्चक्खामि सव्वं असणं सव्वं पाणं सव्वं खाइमं सव्वं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं अइयं निदामि पडिपुन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि, अरिहंतं सक्खियं, सिद्धसक्खियं, साहूसक्खियं देवसक्खियं, अप्पसक्खियं वोसिरामि, जे में हुज्ज पमाओ इमस्स देहस्स इमाइ वेलाए आहारमुवहि देहं तिविहं, तिविहेणं वोसिरियं।”

गुरु एवं संघ —“संसार को भवपार करने वाले बनो - यह कहकर वासक्षेप अक्षत आदि ग्लान के ऊपर डालें। शान्ति हेतु “अट्टावयम्मिसहां” इत्यादि स्तुति का या “चवणं जम्मणभूमी” इत्यादि स्तव का पाठ करें। गुरु निरन्तर (सतत) ग्लान के समक्ष त्रिभुवन चैत्य का व्याख्यान, अनित्यादि बारह भावनाओं का व्याख्यान, अनादिभवस्थिति का विवेचन एवं अनशन के फल का विवेचन करता रहे। संघ गीत, नृत्य आदि उत्सव करे। अब ग्लान जीने एवं मरने की इच्छा का त्याग करके समाधि में विशेष रूप से स्थित होता है। फिर अन्त समय आने पर ग्लान “सम्पूर्ण आहार, सम्पूर्ण देह एवं सम्पूर्ण उपधि का मैं त्याग करता हूँ”— यह कहता है। फिर अन्त में ग्लानसाधक पंचपरमेष्ठी मंत्र के स्मरण एवं श्रवणपूर्वक शरीर का त्याग करता है। अन्तिम संस्कार-विधि में यह अनशन की विधि है।

मृतदेह विसर्जन-विधि में मृत्यु होने पर ग्लान को कुश की शय्या पर स्थापित करें। जन्म और मरण के समय भूमि पर सुलाना चाहिए - यह व्यवहार है। अब आयुष्यादि के सर्व दलिकों को भोगने पर तथा चेतनारूप जीव के जाने पर अजीव पुद्गलरूप उसके शरीर का, सनाथता के आख्यापन हेतु, उसके पुत्र आदि के द्वारा तीर्थ संस्कार की विधि की जाती हैं। वह इस प्रकार है - शिखा को छोड़कर ब्राह्मण के सम्पूर्ण सिर एवं दाढ़ी का मुण्डन करने के लिए कहा गया है, कुछ लोग क्षत्रिय एवं वैश्यों को भी ऐसा ही करने का कहते हैं। शव-संस्कार की विधि भी सब अपने-अपने वर्ण, जाति आदि के अनुसार करें। फिर अस्पृश्य एवं अन्त्य वर्ण वाले भी अपनी जाति के अनुसार विधि करें। सुगन्धित तेल आदि का लेपन कर शव को अच्छी तरह से सुगन्धित द्रव्यों के पानी से स्नान कराएं। गन्ध एवं कुंकुम आदि का विलेपन करें। माला पहनाएं, अपने-अपने कुल के अनुसार वस्त्र, आभरण, श्रृंगारों से भूषित करें। शूद्र का सर्वथा मुण्डन न करें। फिर बनाई गई काष्ठ की शय्या, जो बिना पैरो वाली है और अच्छे वस्त्र से आच्छादित है - ऐसी उस शय्या पर शव को शय्या के उपकरण के साथ स्थापित करें। गृहस्थ की मृत्यु पंचक में होने पर मृत्यु के नक्षत्र के अनुसार कुश, सूत्रादि से नक्षत्र-पुत्र बनाना यति के समान ही हैं। कुशपुत्र गृहस्थ वेषधारी बनायें। वर्णानुसार उसके ऊपर

नानाविध वस्त्र, सोना, मणि तथा विचित्र वस्त्र का बना हुआ भवन स्थापित करें।

फिर स्वजाति के चार जनों सहित शव को कंधे पर लेकर श्मशान में ले जाएं। वहाँ उत्तरभाग में शव का सिर रखकर तथा चिता में स्थापित करके पुत्रादि अग्नि से संस्कार करें। अन्न का भोजन न करने वाले बालकों का भूमि-संस्कार करना चाहिए और अन्न का भोजन करने वाले सभी गृहस्थों का अग्नि-संस्कार करना चाहिए। वहाँ प्रेत सम्बन्धी दान को ग्रहण करने वाले को दान दें। फिर सभी स्नान करें और उसी मार्ग से अपने घर आ जाएं। तीसरे दिन पुत्र आदि चिता की भस्म को नदी में प्रवाहित करें एवं उसकी अस्थियों को तीर्थों में स्थापित करें। फिर उसके अगले दिन स्नान करके शोक का निवारण करें। परिजनों सहित मन्दिर में जाकर जिनबिंब को स्पर्श किए बिना चैत्यवंदन करें। फिर उपाश्रय में आकर गुरु को नमस्कार करें। गुरु भी संसार की अनित्यता के स्वरूप का दिग्दर्शन कराए। फिर सभी पूर्वानुसार अपने-अपने सांसारिक कार्य करते हैं। अन्तिम आराधना से लेकर शोक निवारण तक की आवश्यक क्रियाओं में मुहूर्त आदि देखने की आवश्यकता नहीं होती है। मृतक के स्नान कराने में निम्न नक्षत्र वर्जित हैं :-

“यमल एवं त्रिपुष्कर योग में, आर्द्रा, मूला, अनुराधा, मिश्र, क्रूर और ध्रुव संज्ञक नक्षत्रों में प्रेत-क्रिया नहीं करनी चाहिए। धनिष्ठा से लेकर पौंच नक्षत्रों में तृण-काष्ठ आदि का संग्रह नहीं करना चाहिए। शय्या, दक्षिण दिशा की यात्रा, मृतक कार्य, गृहोद्यम आदि न करें। रेवती, आश्लेषा, पुष्य, हस्त, स्वाति, मृगशिर इन नक्षत्रों में तथा बुध, बृहस्पति और शनिवार में प्रेतकर्म सम्बन्धी कार्यों को करने के लिए पण्डितों द्वारा निर्देश दिया गया है।

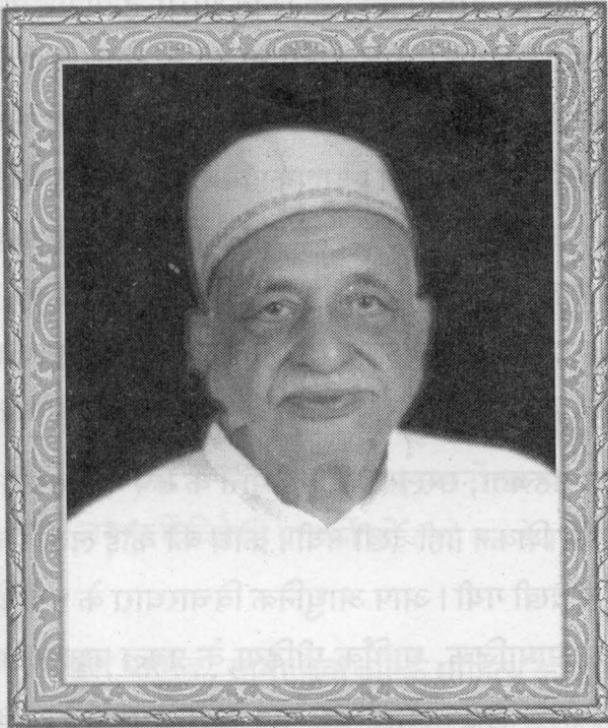
अपने-अपने वर्ण के अनुसार जन्म एवं मरण का सूतक एक जैसा होता है। गर्भपात में भी तीन दिन का सूतक होता है। अन्य वंश वाले की अपने घर में मृत्यु होने पर या जन्म होने पर तथा विवाहित पुत्री के यहाँ का सूतक का अन्न के खाने से, इन सब में भी तीन दिन का सूतक लगता है। अन्न नहीं खाने वाले बालक का सूतक भी तीन दिन का होता है। आठ वर्ष से कम आयु वाले के सूतक का एक-तिहाई भाग कम होता है।

सूतक के अन्त में अपने-अपने वर्ण के अनुसार कल्याणरूप परमात्मा की स्नात्र पूजा और साधर्मिक वात्सल्य करें।

इस प्रकार वर्धमानसूरि प्रतिपादित आचारदिनकर में गृहधर्म में अन्त्य-संस्कार की यह विधि बताई है।

मानवता की, प्रेम की, सहजता, सरलता, अनुशासन,
स्पष्टवादिता, सौम्यता, संयमता, परोपकारिता, धर्म की
गहनता, वाणी में मधुरता, चेहरे पर तेज, संस्कारों की
खूशबू से मर्यादित जीवन-यात्रा के मुसाफिर

श्री गुलाबचन्द जी झाड़चूर



जन्म : 3 अक्टूबर, 1918 • स्वर्गवास : 14 फरवरी, 2007

दुनिया की नज़रों में जीना हमको सीखाया
आपने सिखाया हँसना अब रोने को न कहना

धन्य हुई वह पारिवारिक सदगृहस्थी रूपी बगिया, जिसमें जन्म लिया एक ऐसे फूल ने जिसकी खूशबू से समस्त मानव जगत् महक उठा। धन्य हुई उस माँ की रत्नकुक्षी, जिससे इस गुलाब का जन्म हुआ। धन्य हुए वे पिता, जिन्होंने जन्म दिया ऐसे गुलाब को जिसने पूरे जैन जगत् में अपने गुणों की खूशबू बिखेर दी। जी हाँ, जयपुर की गलियों में पले-बढ़े श्री गुलाबचन्द जी झाड़चूर का जन्म 3 अक्टूबर, 1918 को पिता श्री फूलचन्द झाड़चूर के घर, माता श्रीमती बसन्तीदेवी की रत्नकुक्षी से हुआ। बचपन दिल्ली के मालीवाड़ा में बीता। तत्पश्चात् जोहरी बाजार के सोन्थलीवालों का रास्ता स्थित मकान में बीता। यहीं से आपने अपना जवाहरात का व्यवसाय किया और उसे बुलन्दियों को छुआ। आपका विवाह जैन जगत् के प्रतिष्ठित एवं सुविख्यात श्री राजरूप टाँक की सुपुत्री शान्तिदेवी के साथ हुआ था। आपकी गृहस्थी में सात पुत्र क्रमशः श्री नेमिचन्द जी, रिखबचन्द जी, शीतलचन्द जी, रमेशचन्द जी, सुनिलकुमार जी, श्रीचन्द जी एवं विनयचन्द जी तथा एक बहन एवं चार पुत्रियाँ और आठ पौत्र व एक पौत्री है, सभी सत्संस्कारित।

आप सहजता, सरलता की प्रतिमूर्ति के रूप में विख्यात थे। आपके चेहरे पर कभी शिकन नहीं देखी गयी। क्रोध की कोई लकीर कभी आपके चेहरे पर नहीं देखी गयी। आप आधुनिक विचारधारा के धनी थे। मीडिया, खासतौर पर सामाजिक, धार्मिक मीडिया के प्रबल पक्षधर थे। आप कई समाचार-पत्रों के संरक्षक थे, जो इस बात का परिचायक है कि आप धार्मिक अखबारों को कितना अधिक प्रोत्साहन देते थे। यही परम्परा आज भी आपके परिवार में कायम है। आपके सुपुत्र श्री नेमिचन्द जी स्वयं गुडमॉर्निंग इण्डिया के संस्था संरक्षक हैं, जो इस बात को प्रमाणित करती है कि आपका परिवार धार्मिक अखबारों के प्रोत्साहन के प्रति कितना सजग है।

धार्मिक क्षेत्र में भी आपने अपना लोहा मनवाया। अनेकानेक धार्मिक कार्यक्रमों में आपकी उपस्थिति ही उस कार्यक्रम की सफलता की मोहर लगाती थी। आप कई संस्थाओं से जुड़े रहे, जिनमें ज्वेलर्स एसोसिएशन, कुशल संस्था, श्रीमाल सभा आदि प्रमुख हैं। यही नहीं आप धार्मिक कार्य में व्यस्त रहते और दूसरों को भी धार्मिक राह पर चलने के लिए प्रोत्साहित करते थे। मानव सेवा, जीव दया को आप प्राथमिकता देते थे। आप कभी किसी पर गुस्सा नहीं करते थे। बकौल शीतल जैन (झाड़चूर) नाराज नहीं होना यानी गुस्सा नहीं करना आपकी सबसे बड़ी खासियत थी। आपमें मिलनसारिता एवं स्पष्टवादिता के अलावा भी कई गुण थे। आपने अनेक धार्मिक यात्राएँ कीं।

व्यवसायिक क्षेत्र में भी आपने अनेक कीर्तिमान स्थापित किए, जिनमें 31/33, खाराकुआँ, मुम्बई-2 में सबसे पहले आपने अपना ऑफिस सन् 1947 में खोला एवं वहाँ पर आपने आदत का कार्य चालू किया। आज आपके सुपुत्रगण आपके व्यवसायिक साम्राज्य को आगे बढ़ाने में अग्रणी रहे हैं। अमेरिका, जापान, बैंकाक जैसे दूरस्थ स्थानों पर भी जवाहरात के कार्यालय खोले। जयपुर में विदेशी ग्राहकों को लाने का श्रेय भी आपको ही है।

आप न केवल धार्मिक, सामाजिक बल्कि साहित्य के प्रति भी खासी रुचि रखते थे। आपने साहित्य के प्रति अपनी रुचि को निखारते हुए 'रत्नमाला' नामक पुस्तक का भी सम्पादन किया, जो कि पूर्व में दोहों के रूप में लिखित थी, लेकिन आपने उसका सुन्दर सरलीकरण एवं अनुवाद कर पुनः सम्पादित किया, जो जवाहरात के क्षेत्र में आने वाले नये लोगों को

खासा सम्बल देती है। आप शास्त्रों के अच्छे खासे ज्ञाता थे। चिकित्सा के भी आप अच्छे जानकर थे, खासतौर पर आयुर्वेदिक चिकित्सा का आपको अच्छा खासा ज्ञान था। स्पष्टवादिता आपकी विशेषता थी।

सुसंस्कारों के प्रतीक, धर्म और ज्ञान के प्रतीक, सादगी और सरलता के प्रतीक, सामाजिक एकता और समरसता के प्रतीक सबको प्यार, सबसे प्रेम करने वाले श्री गुलाबचन्द जी झाड़चूर का स्वर्गवास भी प्रेम दिवस यानी वेलेंटाइन-डे पर हुआ। आपका निधन सम्पूर्ण जैन समाज का ही नहीं, बल्कि मानव जाति की अपूरणीय क्षति है। आपके परिवारजन ने संकट और दुःख की घड़ी में भी अपना आत्मबल और आपा नहीं खोया और दुःखद स्थिति होने के बावजूद आपके परिजनों ने आपके नेत्रदान किए, जिससे आपकी आँखों की रोशनी से दो अन्धेरी जिन्दगियों में रोशनी कर गयीं।

आप अपने नाम के ही अनुरूप सामाजिक एकता और प्रेम की खुशबू से समाज को महकाते रहे। आप चले गये, लेकिन संस्कारों का बीजारोपण कर गए, जो आपके परिवार में निरन्तर वृद्धि की ओर अग्रसर रहेगा। आपके बताये मार्ग पर चलकर आपके सिद्धान्तों पर खरा उतरने का प्रयास करना ही आपको सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

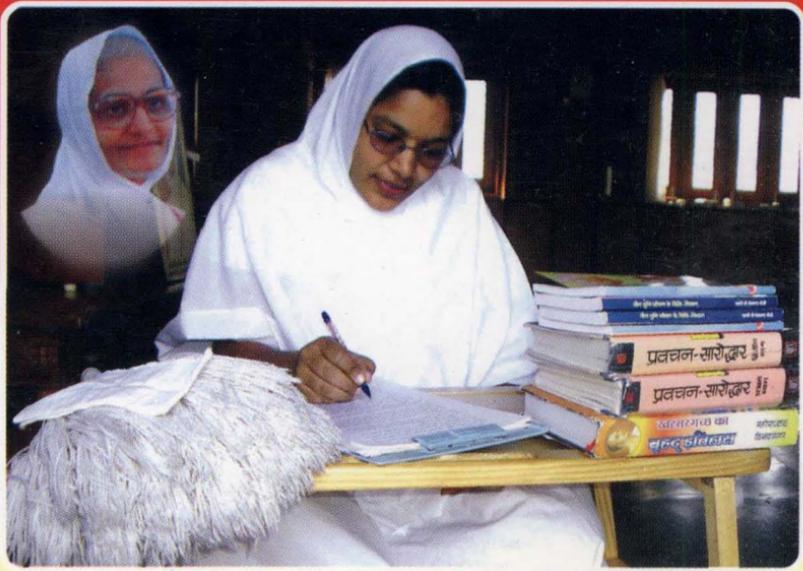




प.पू. समतामूर्ति प्रव. श्री विचक्षण श्री जी म. सा.



प.पू. प्रव. श्री तिलक श्री जी म. सा.



साध्वी श्री मोक्षरत्नाश्रीजी का जन्म राजस्थान के गुलाबी नगर जयपुर में सन् 1975 को एक सुसंस्कारित धार्मिक परिवार में हुआ। पिता श्री छगनलालजी जुनीवाल एवं माता श्रीमती कान्ताबाई के धार्मिक संस्कारों का आपके बाल मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि व्यवहारिक अध्ययन के साथ-साथ ही आप धार्मिक अध्ययन पर विशेष ध्यान देने लगी। शनैः-शनैः आपमें वैराग्य-भावना विकसित होती गई और चारित्र्य व्रत अंगीकार करने का निर्णय ले लिया। आपके दृढ़ संकल्प को देखकर परिजनों ने सहर्ष दीक्षा ग्रहण की आज्ञा प्रदान कर दी। अंततः सन् 1998 में जयपुर में ही पू. चंद्रकला श्रीजी म.सा. की पावन निश्रा में प.पू. हर्षयशा श्री जी म.सा. की शिष्या के रूप में दीक्षित हो गयी। आपका नाम साध्वी मोक्षरत्ना श्री रखा गया। धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ आपने गुजरात यूनिवर्सिटी से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। आपने डॉ. सागरमलजी के निर्देशन में "आचारदिनकर में वर्णित संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन" पर शोध प्रबन्ध लिखकर जैन विश्व भारती लाड़नू से "डाक्टरेक्ट" की पदवी प्राप्त की हैं।